भारत में किसान विद्रोह

डोजियर संख्या 41

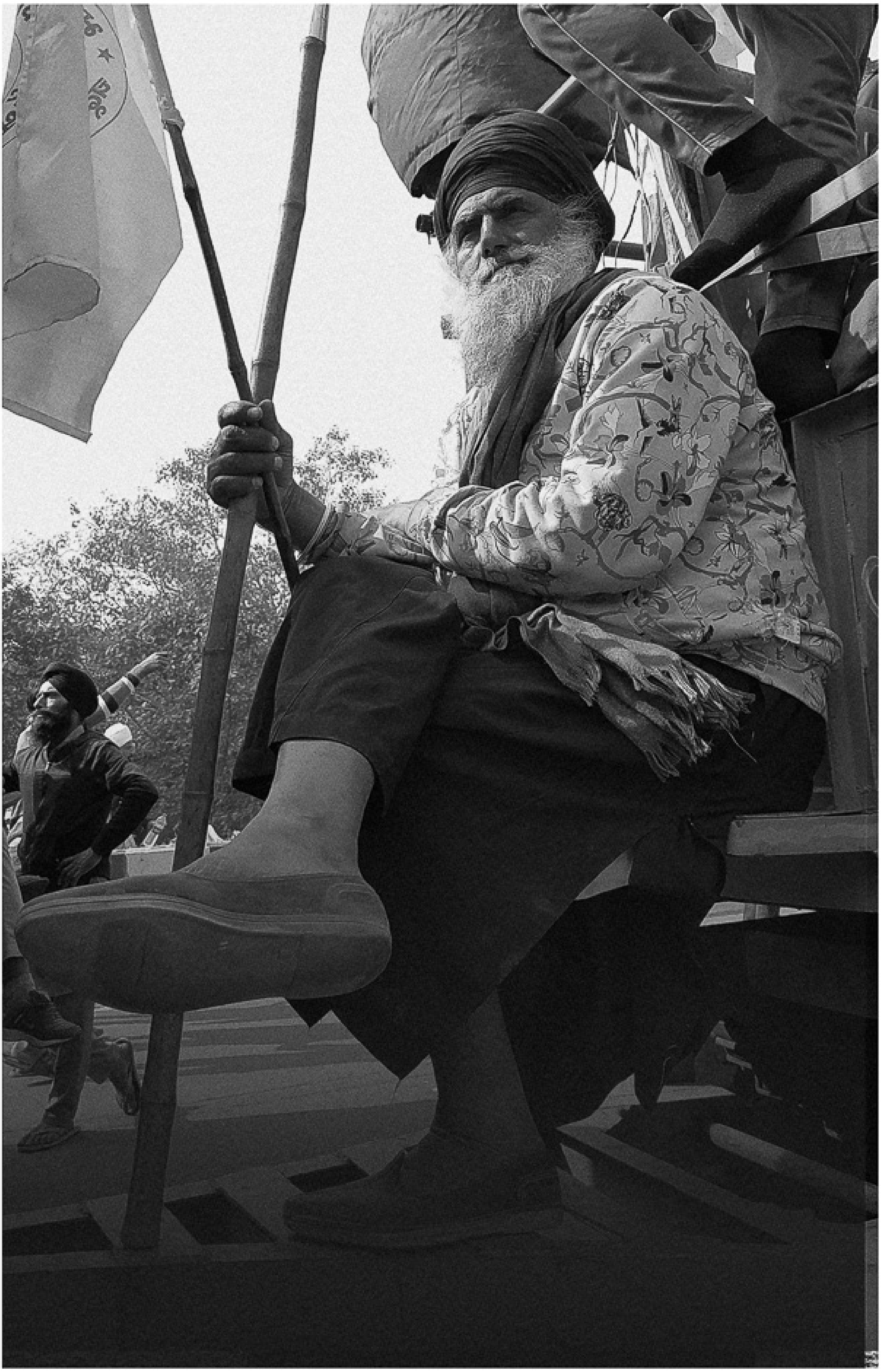

दिल्ली के जी टी करनाल बाईपास रोड पर गणतंत्र दिवस की ट्रैक्टर मार्च के दौरान पंजाब का एक किसान विरोध करता हुआ, 26 जनवरी 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

ये किसानों की तस्वीरें हैं, न कि 'गुंडों, कामचोरों, आतंकवादियों, और अलगाववादियों' की, जैसा कि मुख्यधारा का मीडिया कहता है, कोई चेहरा विहीन भीड़ नहीं है ये।

ये लोगों की तस्वीरें हैं जिनके नाम हैं, संघर्ष और आकांक्षाएँ हैं, और जीने का एक तरीक़ा है।

ये एक वर्ग की तस्वीरें हैं।

ये एक ऐतिहासिक विरोध की तस्वीरें हैं।

इस डोजियर में शामिल सभी तस्वीरें ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान के कला विभाग के सदस्य विकास ठाकुर ने ली थीं। दिल्ली में रहने वाले, विकास ने दिसंबर 2020 और जनवरी 2021 के दौरान हर हफ़्ते किसान आंदोलन के दो प्रमुख विरोध स्थलों, सिंघू बॉर्डर और टिकरी बॉर्डर का दौरा किया। अपने बेसिक जिओमी नोट 6 फोन के कैमरा से, उन्होंने किसानों के विद्रोह को लेख्य किया। विकास ने कहा कि, 'शुरुआत में, मैं सिर्फ संग्रह के लिए तस्वीरें लेना चाहता था'। उनके द्वारा ले गईं तस्वीरें किसानों –मुख्य रूप से हरियाणा और पंजाब से आए किसानों– की दिलेर तस्वीरें हैं, उनके गुस्से की, उनके खुशी की, अपने ट्रैक्टरों में ठंड का सामना करते हुए, अपनी ट्रॉलियों में कविताएँ पढ़ते हुए, और धार्मिक त्योहार मनाते हुए। ये तस्वीरें एक ऐतिहासिक विद्रोह में शामिल किसानों, एक वर्ग और लोगों की तस्वीरें हैं।

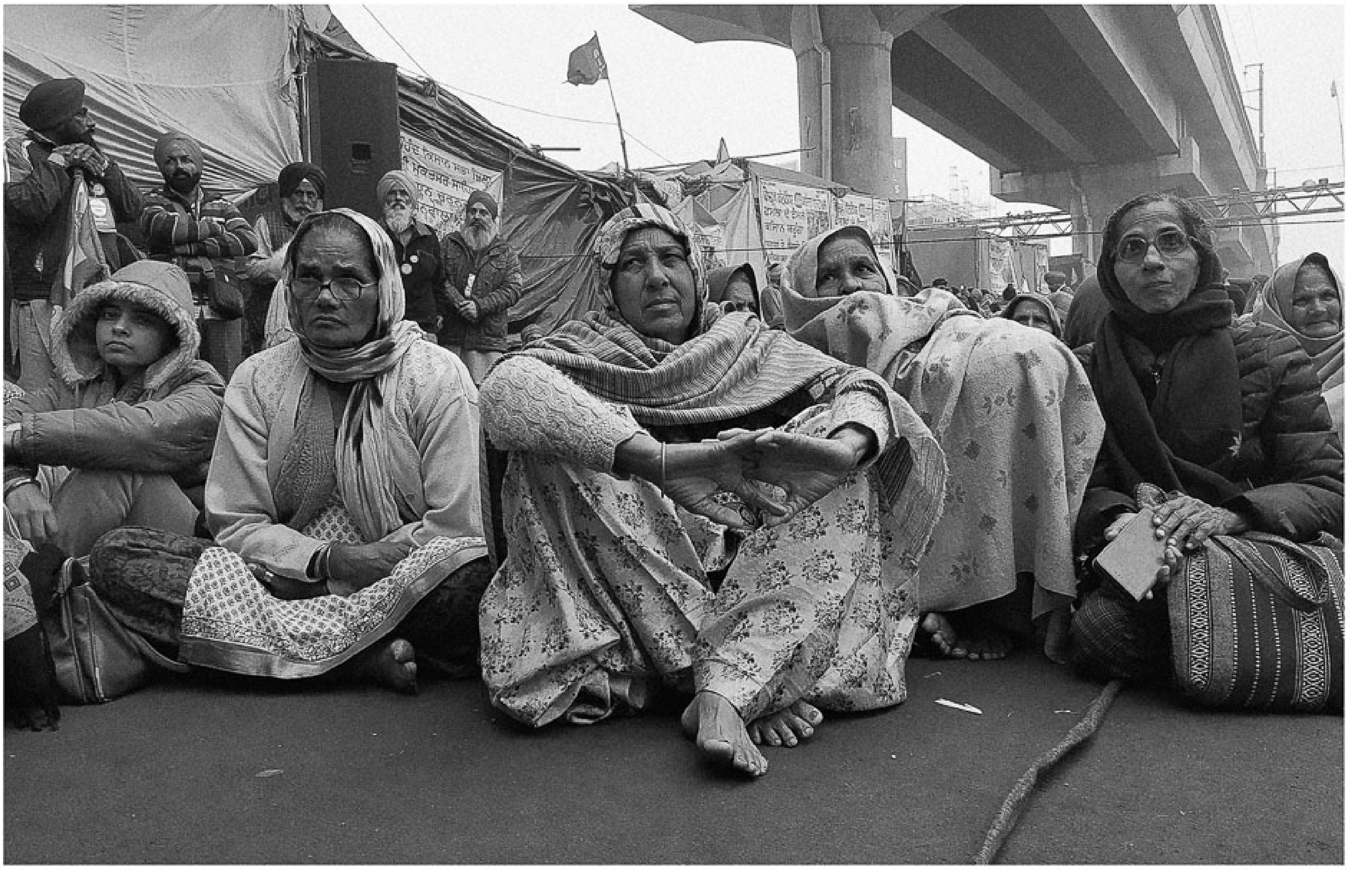

दिल्ली के टिकरी बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन करती हुईं पंजाब और हरियाणा की महिला किसान, 24 जनवरी 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

भारत कोविड-19 महामारी की दूसरी लहर की चपेट में है। जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था, अस्पताल के भरे हुए बिस्तर और ख़ाली पड़े मेडिकल ऑक्सीजन सिलेंडरों के बीच कोविड संक्रमितों की दैनिक संख्या 4,00,000 को पार कर गई है। मृत्यु दर में भारी वृद्धि की वजह से श्मशान घाटों पर क़तारें लगी हुई हैं। हालाँकि सुर्ख़ियों में दिल्ली और अन्य शहरी केंद्र हैं, मगर मौत ने उत्तर भारत के ग्रामीण इलाक़ों में चुपचाप अपना पैर पसार लिया है। लोग 'बुख़ार' और साँस फूलने से मर रहे हैं, सामान्य तौर पर इन लक्षणों का शुमार कोविड-19 के लक्षणों में किया जाता है। चूँकि ऐसे लक्षणों के साथ बीमार लोगों की जाँच नहीं की जा रही है, इसलिए मरने के बाद उनकी गिनती कोविड-19 से मरने वालों की आधिकारिक संख्या में नहीं हो रही है।

अक्टूबर 2020 में, प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी और उनकी धुर-दक्षिणपंथी भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के नेतृत्व वाली भारत सरकार ने तीन क़ानून पारित किए जो सीधे तौर पर कृषि को प्रभावित करने वाले थे। न तो किसान संगठनों से पहले इसके बारे में कोई बातचीत की गई और न संसद में ही चर्चा की अनुमति दी गई। किसानों को तुरंत लगा कि इन तीनों क़ानूनों की वजह से वे देश के बड़े व्यापारिक घरानों के बंधुआ मज़दूर बन जाएँगे। उन्होंने विरोध की शुरुआत की जो महामारी के बावजूद महीनों से जारी है।

किसानों और खेतिहर मज़दूरों ने पहली बार नवंबर 2020 में दिल्ली की ओर कूच किया। उन्हें दिल्ली की सीमाओं पर रोक दिया गया उसके बाद उन्होंने वहीं राष्ट्रीय राजमार्गों पर डेरा डाल दिया और विरोध शुरू कर दिया। पंजाब में बड़े पैमाने पर लामबंदी शुरू हुई लेकिन जल्द ही हरियाणा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश में यह आंदोलन फैल गया।

नवंबर में हुए पहले दिल्ली मार्च के बाद के हफ़्तों में विरोध की लहर पूरे भारत में फैल गई, पश्चिमी भारत में महाराष्ट्र से लेकर पूर्वी भारत में बिहार तक और नीचे दक्षिण भारत में भी। 26 जनवरी 2021 को गणतंत्र दिवस के अवसर पर देश की राजधानी नयी दिल्ली में किसानों और खेतिहर मज़दूरों ने धावा बोल दिया; उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि 1950 से हर साल मानए जा रहे भारतीय संविधान के उत्सव का दिन उनका दिन भी है।

कॉरपोरेट–नियंत्रित मीडिया ने किसानों को ठग, परजीवी, आतंकवादी और अलगाववादी कहकर उनकी निष्ठा पर हमला किया और यह आक्षेप लगाया कि वे भारत के विकास में बाधा डालने के इरादे से विरोध कर रहे हैं। किसान नहीं झुके। वे जानते थे कि वे अपने पूरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके लिए यह लड़ाई अस्तित्व की लड़ाई है: सरकार की नयी नीति की शर्तों को स्वीकार करने से उनकी आजीविका और उनके जीवन जीने के तरीक़े समाप्त हो जाएँगे। वे जानते थे कि तीनों कृषि क़ानून से भारतीय कृषि पर अंबानी और अडानी परिवारों जैसे बड़े पूँजीपतियों का और भी अधिक नियंत्रण स्थापित हो जाएगा। अखिल भारतीय किसान सभा (एआईकेएस) से लेकर भारतीय किसान यूनियन जैसे कई किसान संगठन देश भर के किसानों और खेतिहर मज़दूरों के बीच गए ताकि किसानों की रक्षा करने तथा तीनों क़ानूनों को वापस कराने की माँग के लिए राष्ट्रव्यापी गठबंधन बनाया जा सके।

विरोध प्रदर्शन धीमा नहीं पड़ा है, बल्कि किसान महामारी को लेकर सतर्क हैं। जबसे भाजपा सरकार ने पीछे हटने से इनकार कर दिया है तब से वे उपवास रखने का संकल्प लिए हुए हैं। नतीजा जो भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय कृषि खाई के किनारे पर पहुँच गई है और मोदी सरकार इसे उस किनारे से नीचे धकेलने पर तुली हुई है। तीन दशकों के नवउदारवादी सुधारों से उत्पन्न कृषि संकट के दौरान भारतीय किसान वर्ग अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है। मोदी के तीन कृषि क़ानून किसानों के कृषि जीवन के अवशेषों को नष्ट कर देंगे और इस क्षेत्र को कॉर्पोरेट–नियंत्रित उत्पादन और वैश्विक आपूर्ति शृंखला को सौंप देंगे।

कृषि संकट क्या है? यह एक पुरानी समस्या है जिसके बहुत से लक्षण हैं: कृषि की अनिश्चितता, जिसमें फ़सल की बर्बादी भी शामिल है, जिसका परिणाम कम से लेकर ऋणात्मक आय, ऋणग्रस्तता, अल्परोज़गार, बेदख़ली और आत्महत्या के रूप में सामने आता है। यह डोजियर इस संकट के कारणों का पता लगाएगा, जिन्हें समझना मुश्किल नहीं है, लेकिन इस संकट की शुरुआत ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान हुई और जो 1947 में स्वतंत्रता के बाद नये भारतीय राज्य में भी जारी है। भारतीय कृषि में प्रगति कछुए की रफ़्तार–सी हुई है, जिसकी रफ़्तार बहुत धीमी है तथा जो हठपूर्वक अपने रास्ते पर चल रहा है। ऐसा लगता है कि पिछले पचहत्तर वर्षों में बहुत कम बदलाव आया है, और यहाँ तक कि जब नये कारक सामने आते हैं, तब भी पुराने कारक बने रहते हैं। यह समझने के लिए कि कछुआ अब चट्टान के किनारे पर क्यों रुक गया है, हमें उसकी यात्रा को फिर से देखना होगा।

दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन में भाग लेता एक किसान, अपने ट्रक में, 5 दिसंबर 2020।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

अतीत

जब 1757 में पहली बार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर अधिकार किया, तो उसने पुराने आर्थिक संबंधों को नष्ट करना शुरू किया और उसे इस ढंग का बना दिया जिससे उन्हें यहाँ का माल लूटकर लेजाने में आसानी हो। भारत के अलग–अलग हिस्सों के साथ अलग–अलग व्यवहार किया गया, लेकिन लूटखसोट का मुख्य ढाँचा एक ही रहा। भूमि को बिक्री योग्य संपत्ति में बदल दिया गया जिसे किसानों से अलग किया जा सकता था, और नवनिर्मित बिचौलिये (जैसे ज़मींदार) किसानों से अत्यधिक लगान वसूलने के लिए आ गए थे। 1770 में, अंग्रेज़ों के अधिकार क्षेत्र में आ चुके बंगाल, कंपनी के शासन में आने वाला भारत का पहला भाग, में भयावह अकाल आया जिसमें एक तिहाई आबादी की मौत हो गई। हालाँकि कंपनी के शासन से पहले ग्राम समाज कोई स्वर्ग नहीं था, मगर कंपनी और महारानी के शासन काल (1858 के बाद) के दौरान, यह किसानों के लिए नरक के सामान बन गया।

अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने गणना की कि कंपनी और महारानी के शासन काल में 1765 से 1938 तक– औपनिवेशिक शासन के दो शताब्दियों से भी कम समय में– 45 ट्रिलियन (खरब) डॉलर (आज के मूल्यांकन के आधार पर) यहाँ से इंग्लैंड ले जाया गया। दूसरे शब्दों में, जितनी राशि लूटी गई वह भारत के वर्तमान (2.5 खरब डॉलर) सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के दो दशकों के मूल्य के बराबर थी।

संसाधनों की इतनी भारी कमी का परिणाम यह हुआ कि अच्छी फ़सल के वर्षों में भी किसानों के पास जीवित रहने के लिए पर्याप्त भोजन नहीं होता था। बुरे वर्षों में – जब मानसून का मौसम विफल हो जाता था – पूरी तरह से महीनों भुखमरी का सामना करने से पहले किसान मुश्किल से अपने करों का भुगतान करने के लिए पर्याप्त धन जमा कर पाते थे। किसान अच्छे वर्षों में पैसा या भोजन नहीं बचा पाते थे क्योंकि कराधान की वजह से किसी भी तरह का बचत संभव नहीं था। ऐसे में बुरे वर्षों में उनकी स्थिति गंभीर हो जाती थी। जब सूखा आता था या फ़सल ख़राब हो जाती थी, ऐसा होना तय था, तो किसानों के पास अकाल के प्रकोप से बचने के लिए अनाज का कोई भंडार नहीं होता था।

1850 और 1899 के बीच, भारतीय किसानों को चौबीस अकालों का सामना करना पड़ा, हर दो साल में एक अकाल। इन अकालों ने लाखों लोगों की जान ली: 1876-79 के अकाल के दौरान 1.03 करोड़ लोग मारे गए; 1896-1902 के अकाल के दौरान 1.9 करोड़ लोग मारे गए। 1876 के मद्रास अकाल पर रिपोर्ट करने वाले एक पत्रकार विलियम डिग्बी ने 1901 में लिखा था कि जब 'उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा निभाई गई भूमिका के बारे अगर इतिहासकार पचास साल बाद लिखेंगे तो यह लिखेंगे कि लाखों भारतीयों की अनावश्यक मृत्यु इसका प्रमुख और सबसे कुख्यात स्मारक होगा'।

इन अकालों की स्मृति – विशेष रूप से 1943 का बंगाल अकाल – ने सुनिश्चित किया कि नये भारतीय राज्य ने किसानों पर लगने वाले करों को समाप्त कर दिया, जिसने अकाल की स्थिति पैदा नहीं होने दी और किसानों को अवसर मिला कि वह खाद्य उत्पादन में सुधार के लिए अपनी भूमि में निवेश कर सकें। सूखे के दौरान, सरकार ने यह सुनिश्चित किया कि अकाल की शुरुआत को रोकने के लिए किसानों को भोजन मिले। भूख समाप्त नहीं हुई थी, लेकिन अकाल अवश्य समाप्त हो गया था।

हालाँकि, बड़े पूँजीपतियों और ज़मींदारों के नियंत्रण वाले भारतीय शासन व्यवस्था ने उन कृषि–संबंधी आर्थिक पदानुक्रमों को बरक़रार रखा जो अंग्रेज़ों से उन्हें मिला था। यूएसएसआर और पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ़ चाइना के विपरीत, स्वतंत्र भारत ने गाँवों के सामाजिक–आर्थिक पदानुक्रमों पर चोट नहीं की। वाम आंदोलन के दबाव में, जो भारत के कुछ क्षेत्रों में मज़बूत था, भारत सरकार ने भूमि सुधारों को आधे–अधूरे तरीक़े से लागू किया; भूमि पुनर्वितरण नगण्य था और भू–जोतों पर लगाई गई मामूली सीलिंग सीमा को भी लागू नहीं किया गया क्योंकि ज़मींदारों की अपने क्षेत्रों में राजनीतिक व्यवस्था पर पकड़ थी। विभिन्न राज्यों में काश्तकारी क़ानून का प्रभाव पड़ा, क्योंकि कुछ राज्यों में किसानों को उस भूमि पर मालिकाना हक़ मिला, जिस पर वे खेती करते थे। कुछ लोगों के हाथों में भूमि केंद्रित रही तथा नव–सामंतों के हाथों छोटे किसानों और भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों का शोषण जारी रहा, जिनका संबंध मुख्य रूप से उत्पीड़ित जातियों से था।

कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण के बजाय, भारतीय शासक वर्ग ने सार्वजनिक क्षेत्र का औद्योगिकीकरण किया, जिसमें विशाल बाँधों और सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण शामिल था। 1950 के दशक के अंत तक, भारत के औद्योगिकीकरण ने बिना सुधार वाली कृषि के ऊपर प्रहार शुरू कर दिया। बढ़ते औद्योगिक क्षेत्र को कृषि क्षेत्र के कच्चे माल की आवश्यकता थी और बढ़ती औद्योगिक श्रम शक्ति ने भोजन की माँग को बढ़ा दिया था। नतीजतन, भोजन की कमी लगातार होने लगी जिससे खाद्यान्न की क़ीमत बढ़ गई; इस मुद्रास्फीतिकारी दबाव ने औद्योगिकीकरण को धीमा कर दिया। भारत का विदेशी मुद्रा भंडार लगभग समाप्त हो गया था, जिससे सरकार की खाद्यान्न आयात करने की क्षमता बाधित हो गई थी।

1965 तक, संयुक्त राज्य अमेरिका भारत को खाद्यान्न निर्यात करने वाला प्रमुख देश बन गया, क्योंकि भारत की सरकार ने 1956 में अमेरिका से सार्वजनिक क़ानून (पीएल) 480 के तहत खाद्यान्न उपलब्ध कराने का अनुरोध किया था। इस योजना के तहत, भारत ने अमेरिका से खाद्यान्न, ज़्यादातर गेहूँ, ख़रीदा और भारतीय मुद्रा में भुगतान किया, जिसने भारत को विदेशी मुद्रा संकट का सामना करने से बचा लिया। अमेरिका ने पीएल -480 योजना का उपयोग भारत सरकार पर दबाव डालने के लिए किया ताकि वह अपनी नीति, विशेष रूप से गुटनिरपेक्ष संबंधी विदेश नीति में परिवर्तन करे। एक अमेरिकी राजनयिक ने कहा था कि भारत भेजा गया अनाज ख़राब गुणवत्ता वाला था, जो पोल्ट्री को खिलाने के लिए उपयोगी था लेकिन मानव उपभोग के लिए नहीं।

चीन (1962) और पाकिस्तान (1965) के साथ भारत के युद्धों के कारण विदेशी मुद्रा भंडार में भारी गिरावट आई। 1965 के सूखे की वजह से कृषि वर्ष 1965-66 में खाद्य उत्पादन में बीस प्रतिशत तक की कमी आई। भारतीय राजनेताओं और राजनयिकों ने वाशिंगटन से अधिक अनाज भेजने के लिए अनुरोध किया, लेकिन अमेरिका ने ज़रूरत से भी कम अनाज भेजा क्योंकि वह दो नीतियों को बदलने के लिए दबाव बनाना चाह रहा था: पहला, आर्थिक विकास के आयात प्रतिस्थापन मॉडल को ख़त्म करना और देश को विदेशी निवेश और व्यापार के लिए खोलना; दूसरा, यूएसएसआर के साथ संबंधों को कमज़ोर करना और वियतनाम पर अमेरिकी युद्ध की आलोचना को रोकना।

जब प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी 1966 में अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन से मिलने के लिए वाशिंगटन गईं, तो उन्होंने आयात प्रतिबंध हटाने, कुछ उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त करने, उर्वरक उत्पादन में अमेरिकी निवेश की अनुमति देने और भारतीय रुपये का संतावन प्रतिशत अवमूल्यन करने के अमेरिका और विश्व बैंक की शर्तों पर सहमति व्यक्त की। जिसका नतीजा यह निकला कि मुद्रास्फीति बढ़ गई और अर्थव्यवस्था गहरे संकट में चली गई। भारत की सरकार का मानना था कि अमेरिका खाद्यान्न भेजेगा और विश्व बैंक एक मौद्रिक पैकेज के लिए सहमत हो जाएगा, लेकिन न तो अमेरिका और न ही विश्व बैंक ने ही भारत की उम्मीदों को पूरा किया। यह भारत सरकार के लिए एक अपमानजनक स्थिति थी, यह इस बात का प्रमाण था कि वह अब भी साम्राज्यवादी व्यवस्था पर निर्भर है।

इस संकट के दौरान, कुलीन वर्ग के बीच इस बात का एहसास हो गया था कि भारत जैसे बड़े देश के लिए, आयात के ज़रिये अपने लोगों को खिलाना कोई विकल्प नहीं है। यह न केवल भारतीय संप्रभुता में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को बढ़ाएगा; भारत के लाखों लोगों की खाद्य सुरक्षा को अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों की आपूर्ति और क़ीमतों की अनिश्चितता पर निर्भर रहने देना गंभीर आंतरिक संकट को बुलावा भी होगा। इस अहसास ने भारत सरकार को खाद्य सुरक्षा हासिल करने और संकट से बाहर निकलने के लिए आंतरिक विकल्पों की तलाश करने के लिए मजबूर किया।

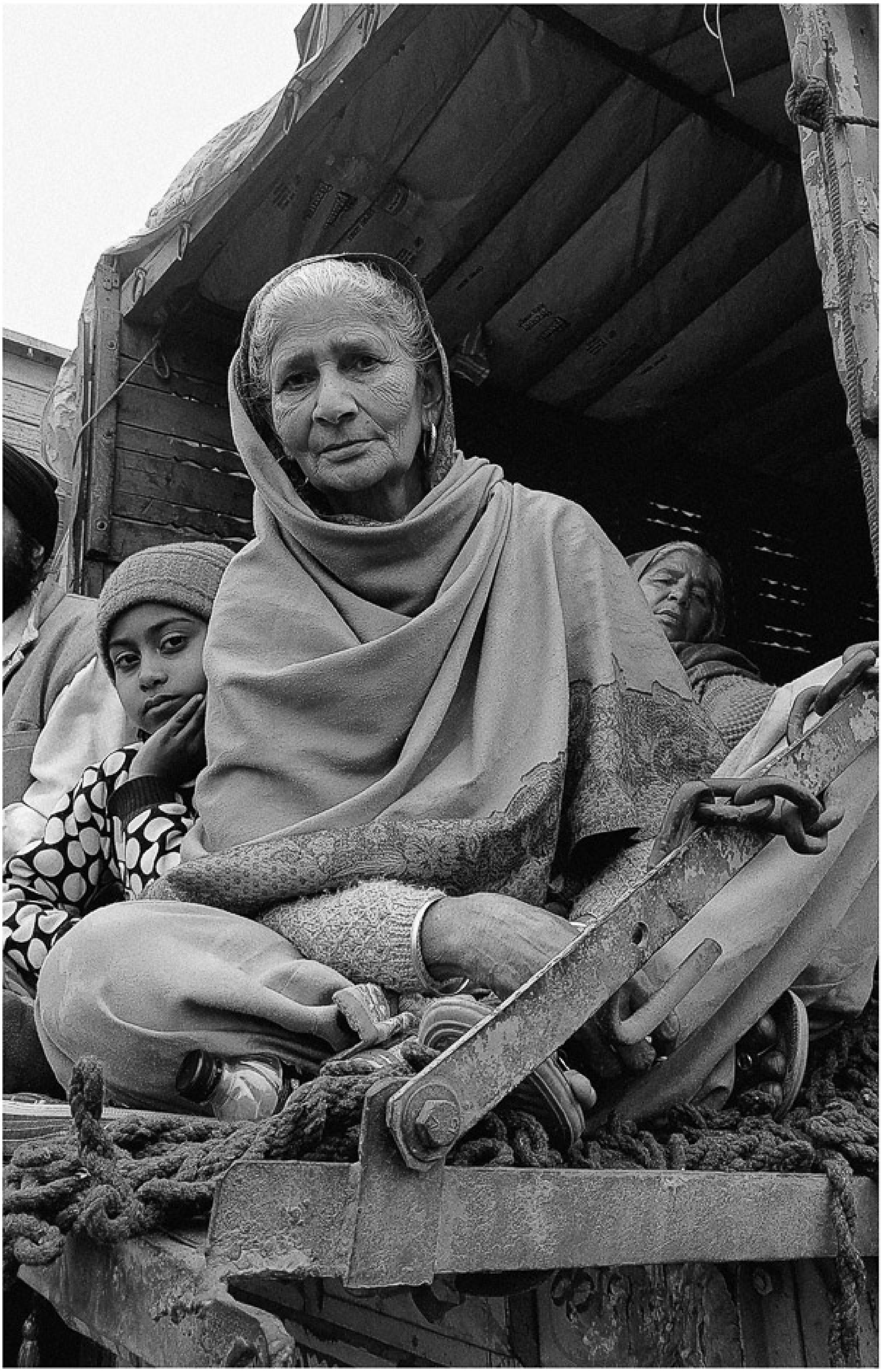

दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर प्रारंभिक ट्रॉली रैली में भाग लेतीं एक किसान, 7 जनवरी 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

संकट से बाहर निकलने के दो रास्ते

भारत की सरकार के पास संकट से बाहर निकलने के दो रास्ते थे:

1. **भूमि पुनर्वितरण**भारत सरकार भूमि पुनर्वितरण के माध्यम से भूमि सुधारों को लागू कर सकती थी, जिसका अर्थ होता भूमि को ग्रामीण भूमिहीन परिवारों को सौंपना। कुछ लोगों के पास बहुत अधिक भूमि इकट्ठा हो गई थी जो कृषि उत्पादकता में वृद्धि के लिए एक बाधा बन गई थी। नव–सामंती संबंधों का मतलब था कि ज़मींदार अपने जोतदारों से उच्च लगान वसूल कर सकते थे और साथ ही अपने निजी इस्तेमाल के लिए जोतदारों के मुफ़्त श्रम का भी इस्तेमाल कर सकते थे। ज़मींदारों को ज़मीन के किराये से जो पैसा आया उसे उन्होंने अपनी ज़मीन तथा प्रौद्योगिकी में निवेश करने के बजाय सूद के कारोबार में लगा दिया। ज़मीन के जोतदार भी भूमि को सुधारने के लिए अपनी आय का उपयोग नहीं कर सकते थे क्योंकि उनके पास जो भी पैसा बचता था उसे ज़मीन के किराये के तौर पर ज़मींदार को दे देना पड़ता था। कृषि में निवेश की कमी की वजह से उच्च विकास दर को हासिल करने में रुकावट आई। भूमि पुनर्वितरण के साथ–साथ कृषि बुनियादी ढाँचे में सार्वजनिक निवेश से सामाजिक–आर्थिक समानता तथा आर्थिक विकास दोनों में वृद्धि होती। विकास के बाद उत्पादकता में वृद्धि और किसानों द्वारा खपत में वृद्धि होती, जिससे ग्रामीण औद्योगिकीकरण को बढ़ावा मिलता।

2. **हरित क्रांति।**1960 के दशक की शुरुआत में, कृषि वैज्ञानिक नॉर्मन बोरलॉग ने उच्च उपज देने वाले गेहूँ की बौनी क़िस्में विकसित कीं, जिन्हें रासायनिक उर्वरकों और औद्योगिक पैमाने पर सिंचाई की आवश्यकता थी। उच्च उपज देने वाली यह नयी कृषि तकनीक मौजूदा स्वदेशी प्रौद्योगिकियों की तुलना में कहीं अधिक उत्पादक थी। इसलिए, 'हरित क्रांति' भारतीय शासक वर्ग के लिए एक सुखद विकल्प था, जिसे महसूस हुआ कि इससे भूमि सुधार के बिना कृषि उत्पादकता बढ़ेगी।

   वास्तव में, भूमि सुधार और हरित क्रांति प्रौद्योगिकी को एक विशेष विकल्प के रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है; दोनों के संयोजन, विवेकपूर्ण तरीक़े से उपयोग किए जाने से उच्च कृषि विकास दर हासिल किया जा सकता था जिससे किसानों को लाभ होता। हालाँकि, भारत सरकार ने भूमि संबंधों में सुधार से बचने का रास्ता चुना और इसकी जगह हरित क्रांति पर ध्यान केंद्रित किया।

1961 में, भारत के गाँवों में बारह प्रतिशत ग्रामीण परिवारों के पास साठ प्रतिशत से अधिक फ़सल भूमि थी। चूँकि सरकार का उद्देश्य औद्योगिकीकरण के हित में खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता को बढ़ावा देने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना था, इसलिए बड़ी पूँजी वाले किसानों को लाभान्वित करने के लिए हरित क्रांति तकनीक को लागू करना उचित समझा गया। ग्रामीण जनता की आजीविका में सुधार और सामाजिक–आर्थिक समानता हासिल करना प्राथमिक लक्ष्य नहीं था। यह मान लिया गया था कि जैसे–जैसे उत्पादकता बढ़ेगी तथा अमीर किसानों की आय बढ़ेगी, वैसे–वैसे बाक़ी ग्रामीण परिवारों को भी इसका लाभ मिलेगा।

किसानों की सहायता के लिए, सरकार ने कृषि विज्ञान के संस्थानों को बढ़ावा दिया। शीर्ष संस्था के रूप में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (1929 में स्थापित) के साथ–साथ राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली का निर्माण किया गया, उसके साथ ही विशेष अनुसंधान संस्थानों, कृषि विश्वविद्यालयों, विस्तार केंद्रों और क्षेत्र अनुसंधान स्टेशनों का एक व्यापक नेटवर्क स्थापित किया गया। इन संस्थानों ने हरित क्रांति प्रौद्योगिकियों के उपयोग के लिए तकनीकी सहायता प्रदान की। उच्च

उपज देने वाली क़िस्मों को पानी की प्रचुर उपलब्धता तथा कृषि रसायनों के अत्यधिक इस्तेमाल की आवश्यकता होती है। इसी वजह से, हरित क्रांति तकनीक केवल नहर सिंचाई प्रणाली वाले क्षेत्रों जैसे पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दक्षिणी भारत के तटीय मैदानों में लागू की जा सकी। हरित क्रांति तकनीक का उपयोग भारत के सत्तर प्रतिशत फ़सल भूमि में नहीं किया गया, जहाँ गाँवों में लोग जीवन निर्वाह के लिए खेती कर रहे थे।

देश के बाक़ी हिस्सों में हरित क्रांति प्रौद्योगिकी का विस्तार करने के लिए सरकार ने सतही सिंचाई में पर्याप्त निवेश किया। 1951 और 1991 के बीच, नहर सिंचाई के तहत क्षेत्र दोगुने से अधिक हो गए, 83 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 175 लाख हेक्टेयर। ट्यूबवेल और बोरवेल के लिए किसानों को बैंक ऋण से मदद मिली जिसके बाद सिंचाई में इज़ाफ़ा हुआ। 1961 और 1991 के बीच, ट्यूबवेल सिंचाई के तहत लगभग 140 लाख हेक्टेयर क्षेत्र का विस्तार हुआ, 1961 के पहले ट्यूबवेल सिंचाई की व्यवस्था न के बराबर थी। जैसे–जैसे नहर सिंचाई का विस्तार हुआ, छोटे और सीमांत किसानों ने भी हरित क्रांति प्रौद्योगिकी के उच्च उपज वाले बीज और रासायनिक उर्वरक संयोजन का उपयोग करना शुरू कर दिया।

जिन सरकारी संस्थानों को कृषि विकास का ज़िम्मा सौंपा गया था उनके सामने यह स्पष्ट था कि उत्पादकता बढ़ाने के लिए किए जाने वाले निवेश में किसानों को उनके हाल पर नहीं छोड़ा जा सकता है। प्रमुख क्षेत्रों – जैसे सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण, और भूमि विकास और बाज़ार के बुनियादी ढाँचे के निर्माण – में निवेश की जिस पैमाने पर आवश्यकता थी वह किसानों की व्यक्तिगत क्षमता से परे था; यह केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता था। इसके अलावा, खेती प्रकृति की अनिश्चितताओं (बाढ़, सूखा, ओलावृष्टि, कीट) पर भी निर्भर था, जो पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा थोपी गई अनिश्चितताओं से और अधिक जटिल हो जाती है। क़ीमतों में उतार–चढ़ाव होता रहता था, छोटे किसान विशेष रूप से खेती में उपयोग में आने वाली वस्तुओं की सौदेबाज़ी करने में तथा अपनी उपज की बाज़ार क़ीमतों को नियंत्रित करने में असमर्थ थे। ऋण प्राप्त करने, खेती में उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर सब्सिडी, बाज़ार के बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने और अंतिम उत्पादन के लिए लाभकारी क़ीमतों की एक प्रणाली को बनाए रखने के लिए किसानों को राज्य के समर्थन की आवश्यकता थी। अपने संस्थागत तंत्रों के माध्यम से कुछ जोखिम उठाकर, सरकार के पास यह क्षमता थी कि वह खेती को व्यावहारिक बना सके। 1960 के दशक में जैसे–जैसे ये संस्थान विकसित हुए, वे कृषि प्रक्रियाओं और ग्रामीण जीवन का अटूट हिस्सा बन गए। हालाँकि इन संस्थागत उपकरणों ने बड़े किसानों को अधिक लाभ पहुँचाया, फिर भी इसने पूरी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सहारा दिया और भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों को भी कुछ राहत प्रदान की। यह इन संस्थानों के लचीलेपन का एक प्रमाण है कि 1991 के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की शुरुआत के बाद से कोई भी सरकार उन्हें पूरी तरह से नष्ट नहीं कर पाई है। मोदी के तीनों कृषि क़ानून इन संस्थागत व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकने का एक सीधा प्रयास हैं। इसलिए, किसानों का संघर्ष एक राजनीतिक लड़ाई है, न केवल इन संस्थागत साधनों की रक्षा के लिए, बल्कि उनके जीवन जीने के तरीक़े को संरक्षित करने के लिए भी।

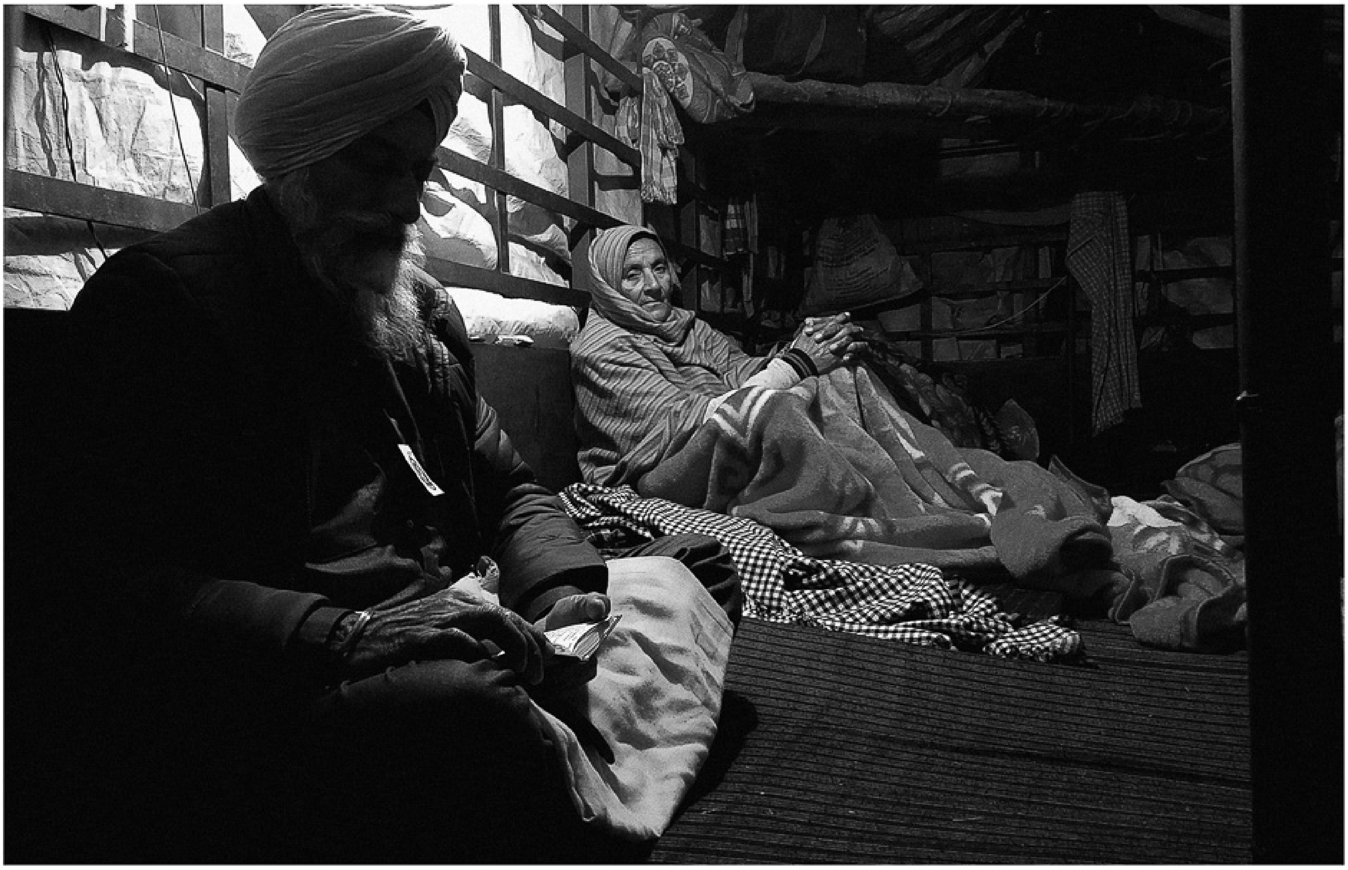

दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर एक किसान दंपति अपनी ट्रॉली में सर्दियों की रात बिताते हुए, 28 दिसंबर 2020।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

ऋण तथा मूल्य

स्वतंत्र भारत में सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक नीतिगत निर्णय 1969 में बैंकों का राष्ट्रीयकरण था। कृषि विस्तार के लिए ऋण सहायता प्रदान करने की आवश्यकता ने इस निर्णय में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राष्ट्रीयकरण से पहले तक भारत में बैंकिंग प्रणाली पर निजी बैंकों तथा सार्वजनिक रूप से नियंत्रित भारतीय स्टेट बैंक (एसबीआई) का प्रभुत्व था। निजी बैंकों के कार्यालय महानगरीय केंद्रों में थे, जिनकी ग्रामीण भारत में कोई ख़ास उपस्थिति नहीं थी। उनके बोर्ड में उद्योगपतियों की भरमार थी, जिनकी प्रवृत्ति औद्योगिक क्षेत्र को पैसा उधार देने की थी, न कि कृषि क्षेत्र को। 1961 में, कृषि – जिसमें सत्तर प्रतिशत कार्यबल कार्यरत था और सकल घरेलू उत्पाद में जिसकी चालीस प्रतिशत हिस्सेदारी थी – को वाणिज्यिक बैंकों द्वारा दिए गए कुल ऋण का दो प्रतिशत प्राप्त हुआ। वाणिज्यिक बैंकों ने किसानों को उधार देने के लिए सरकार द्वारा की जाने वाली अपील को मानने से इनकार कर दिया। वाणिज्यिक बैंकों के लिए ग्रामीण इलाक़ों में विस्तार करने के लिए पैसा ख़र्च करना कभी भी उतना उपयोगी नहीं था क्योंकि उद्योग और व्यापार को दिए जाने वाले ऋण से उन्हें जो कमाई होती थी वह कृषि से कभी नहीं हो सकती थी। कृषि क्षेत्र में निवेश करने में बैंकों की विफलता के परिणामस्वरूप, सरकार ने 1969 में चौदह निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके उनका अधिग्रहण कर लिया और अस्सी प्रतिशत बैंकिंग व्यवसाय को सार्वजनिक नियंत्रण में ला दिया।

सरकार ने नये सार्वजनिक बैंकों को अपने ऋण का कम–से–कम अठारह प्रतिशत कृषि क्षेत्र को उधार देने का निर्देश दिया। इसके परिणामस्वरूप, इन सार्वजनिक बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ खोलनी शुरू कीं, ज़्यादातर उन क्षेत्रों में जहाँ हरित

क्रांति प्रौद्योगिकी लागू की गई थी।

पहली बार लाखों किसानों के पास गाँव के साहूकार का विकल्प था। इससे कृषि में निवेश को बढ़ावा मिला। बैंकों ने उद्योग और व्यापार को दिए जाने वाले ऋण के लाभ से कृषि के लिए कम ब्याज वाले ऋणों के कम लाभ की भरपाई की। किसानों को मौसमी फ़सल ऋण के साथ-साथ ट्रैक्टर और स्प्रेयर जैसी मशीनरी ख़रीदने के लिए दीर्घकालिक ऋण भी मिला। भूमि जोत के आकार के आधार पर ऋण दिए गए, जिसका लाभ बड़े किसानों को हुआ, हालाँकि छोटी जोत वाले किसानों को भी ऋण दिया गया। यह ऋण सरकार द्वारा बीज और उर्वरक जैसे सब्सिडी वाले इनपुट की बिक्री के साथ आया, और सरकार ने निजी उर्वरक निर्माताओं को कम क़ीमतों की भरपाई के लिए सब्सिडी दी। बैंक के राष्ट्रीयकरण से कृषि विकास को गति मिली।

1960 में, सरकार ने न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) योजना की स्थापना की। पाँच साल बाद, सरकार ने भारतीय खाद्य निगम (एफ़सीआई) की स्थापना की। एफ़सीआई और एमएसपी को एक साथ कृषि की एक बुनियादी दुविधा का समाधान करने के लिए लाया गया था: यदि खाद्य क़ीमतें बहुत कम हैं, तो किसान को नुक़सान होता है, लेकिन यदि खाद्य क़ीमतें बहुत अधिक हैं, तो श्रमिकों को नुक़सान होता है। किसी भी फ़सल के लिए एमएसपी तय किया जाता है ताकि किसानों को उनकी खेती की लागत को पूरा करने के लिए क़ीमत मिल सके और किसान को उचित आय मिल सके। एफ़सीआई बदले में एमएसपी पर किसानों से खाद्यान्न ख़रीदता है और श्रमिकों को उचित मूल्य पर ये अनाज उपलब्ध कराता है। इस पूरे तंत्र को सरकार द्वारा सब्सिडी दी जाती है, जिससे इन प्रतिस्पर्धी दावों को संतुलित किया जाता है। सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के माध्यम से ख़रीदे गए अनाज को मज़दूर वर्ग और किसानों को बेचती है। एफ़सीआई के गोदामों में अतिरिक्त अनाज को बफ़र के रूप में रखा जाता है ताकि अगर किसी साल फ़सल ख़राब हो जाए तो वैसे में उच्च खाद्य मुद्रास्फीति से मज़दूर वर्ग को बचाने के लिए एक प्रति-चक्रीय उपाय के रूप में इसे बाज़ार में उतारा जाता है।

लेकिन किसानों द्वारा उगाई गई सभी उपज एफ़सीआई द्वारा नहीं ख़रीदी जाती है। शेष व्यापारियों को बेच दिया जाता है। व्यापारियों के मुक़ाबले व्यक्तिगत किसानों को नुक़सान ही होता है क्योंकि व्यापारी उनके उपज की कम दाम लगाते हैं, उन्हें भुगतान में देरी करते हैं, और धोखाधड़ी वाले तराज़ू का उपयोग करके उन्हें धोखा देते हैं। 1960 और 1970 के दशक में, भारतीय संघ में राज्यों ने बाज़ार यार्डों को विनियमित करने, यार्डों में भंडारण के लिए बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने और व्यापारियों के व्यवहार के नियमन को सुनिश्चित करने के लिए कृषि उत्पाद विपणन समितियों (एपीएमसी) की स्थापना की। एफ़सीआई ने इन एपीएमसी यार्डों से अपने लिए अनाज का स्टॉक ख़रीदा। सरकार की हरित क्रांति और ग्रामीण ऋण नीतियों की सफलता इसके संकीर्ण उद्देश्यों द्वारा सीमित थी। इन नयी तकनीकों ने सुनिश्चित सिंचाई वाले राज्यों को लाभ पहुँचाया, जिसका अर्थ था कि उन्हें अधिक कृषि ऋण प्राप्त हुआ। एमएसपी के माध्यम से अधिकांश अनाज की ख़रीद पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्रों तक सीमित थी। भले ही एमएसपी के तहत अनाज तथा दाल जैसी तेईस कृषि वस्तुओं को सूचीबद्ध किया गया है, मगर धान और गेहूँ की सबसे अधिक ख़रीद की जाती है।

इस निर्णय की अनिश्चितता का अर्थ यह है कि जो लोग अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में खेती करते हैं, जहाँ अन्य फ़सलें उगाई जाती हैं, उनके पास सरकारी सहायता समग्रता से नहीं पहुँचती हैं। एपीएमसी की स्थापना भी इन्हीं पूर्वाग्रहों पर आधारित थी, ताकि इन तीन क्षेत्रों (पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश) में बेहतर बाज़ार बुनियादी ढाँचा हो। पंजाब में, प्रत्येक 116 वर्ग किलेमीटर में एक विनियमित मार्केट यार्ड है, लेकिन आंध्र प्रदेश में, ऐसा एक विनियमित मार्केट यार्ड 853 वर्ग किलोमीटर के दायरे के भीतर के गाँवों की सेवा करता है। मार्केट यार्ड की निकटता का छोटे और सीमांत किसानों पर काफ़ी असर पड़ता है क्योंकि नज़दीकी यार्ड का मतलब है परिवहन पर कम लागत।

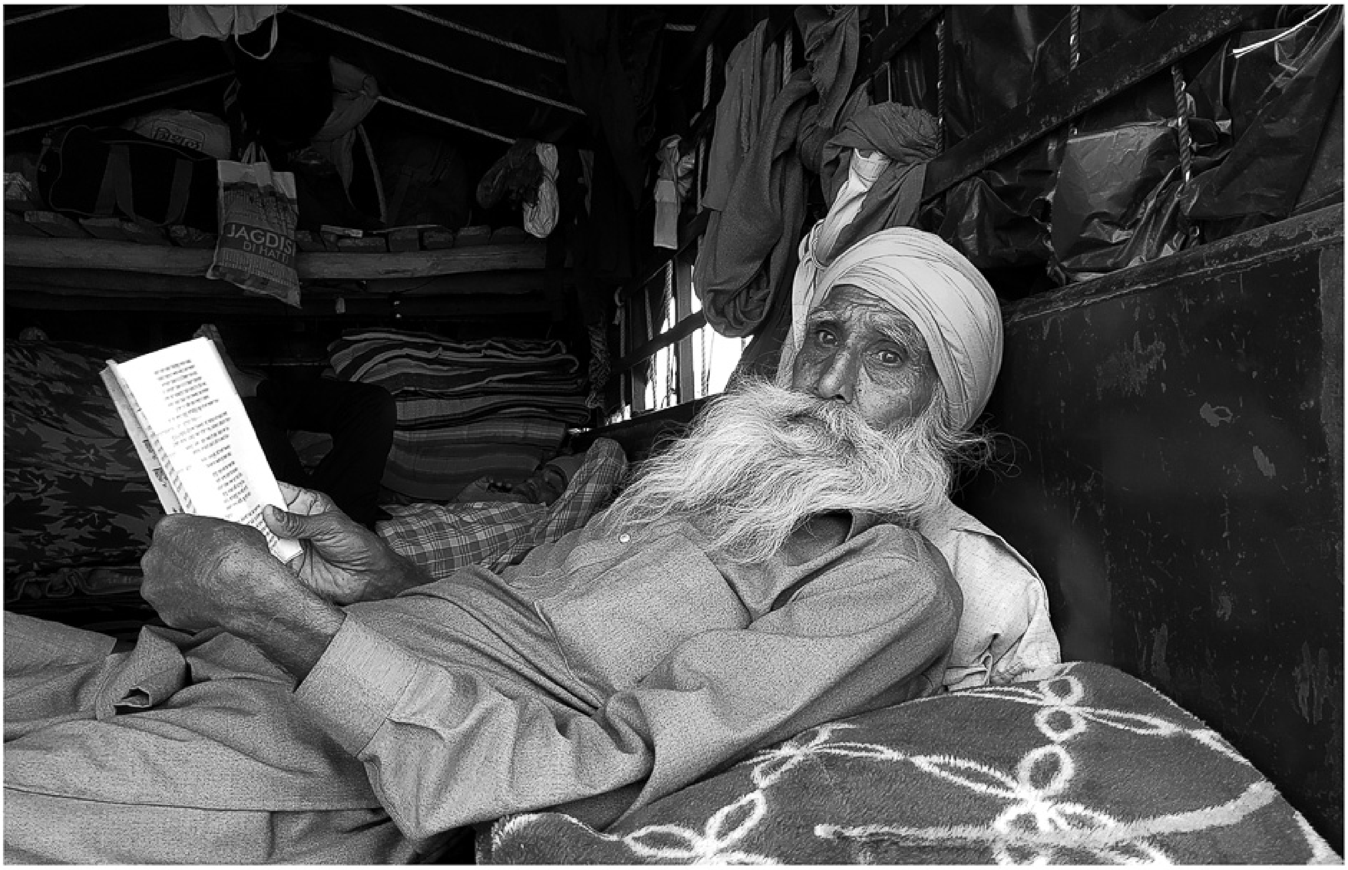

शुरुआती विरोध प्रदर्शनों से ही शामिल एक किसान दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर अपनी ट्रॉली में पंजाबी के क्रांतिकारी कवि, पाश, की कविताएँ पढ़ते हुए।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थानh

वर्ग की कठोरता

हरित क्रांति शुरू होने के कुछ समय बाद ही, ग्रामीण असमानता के और अधिक गहरे होने के सामाजिक और राजनीतिक परिणामों के बारे में भारतीय गृह मंत्रालय काफ़ी चिंतित हुई और यह चिंता वाजिब भी थी। गृह मंत्री वाई.बी. चव्हाण ने चिंतित होकर कहा था कि कहीं ऐसा न हो कि हरित क्रांति एक लाल क्रांति में रूपांतरित हो जाए। *[illegible] (1969)*, नामक रिपोर्ट जिसे उनके मंत्रालय ने तैयार किया था, उसमें बुर्जुआ दृष्टिकोण से समस्या का एक स्पष्ट मूल्यांकन था:

> सबसे पहले, [हरित क्रांति की नयी रणनीतियाँ] एक पुरानी कृषि प्रधान सामाजिक संरचना पर टिकी हुई हैं। जिसे कृषक वर्ग कहा जा सकता है, उसके हित सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों के सामान्य रूप से स्वीकृत ढाँचे में परिवर्तित नहीं हुए हैं। दूसरे, नयी तकनीक और रणनीति, जो उत्पादन को पहला लक्ष्य मानकर आगे बढ़ी तथी जिसके लिए सामाजिक अनिवार्यताएँ कम महत्व की रहीं उसके बाद ऐसी स्थिति पैदा हुई है जिसमें असमानता, अस्थिरता और अशांति के तत्व प्रमुख रहे जिसके बाद अब तनाव में वृद्धि की संभावना बढ़ गई है।

ठीक इसी तरह की नीति ने ग्रामीण वर्ग विभाजन को तेज़ किया और ऐसे काम के लिए अवसर निर्मित किया जिससे गृह मंत्रालय को बचना चाहिए था, अर्थात् ग्रामीण विद्रोहों से निपटना। 1969 के गृह मंत्रालय की रिपोर्ट के काव्यात्मक

लेखकों ने लिखा था कि भारतीय गाँव के 'जटिल अणु' खुद को एक संगठित कृषक वर्ग के साथ जुड़ा हुआ महसूस कर सकते हैं और 'विस्फोट के साथ समाप्त हो सकते हैं'। इसे कर्ज़ के जाल के माध्यम से किसानों का मनोबल गिराकर और ग्रामीण इलाक़ों में अमीर किसानों की शक्ति को मज़बूत करके रोका जाना था।

अमीर किसान सरकार द्वारा स्थापित संस्थागत तंत्रों का उपयोग करने की बेहतर स्थिति में थे। इस प्रणाली की स्थापना उन लोगों को अधिक बैंक ऋण और न्यूनतम समर्थन मूल्य और सब्सिडी वाले उर्वरक के अधिक लाभ प्रदान करने के लिए की गई थी, जिनके पास बड़ी भूमि जोत थी। चूँकि सरकार ग्रामीण भारत की असमानताओं को दूर करने के बजाय कृषि उत्पादकता बढ़ाने में अधिक रुचि ले रही थी, इसलिए इन नीतियों का लाभ अमीर किसानों को मिला।

चूँकि अमीर किसानों ने सरकारी बैंक ऋण पर क़ब्ज़ा कर लिया, इसलिए छोटे और सीमांत किसान बाध्य होकर साहूकारों से ऋण लेते रहे। कृषि परिवारों के नवीनतम स्थिति आकलन सर्वेक्षण के अनुसार, अमीर किसानों ने अपने ऋण का अस्सी प्रतिशत संस्थागत स्रोतों से प्राप्त किया, जबकि सीमांत किसानों को इन स्रोतों से केवल पचास प्रतिशत ऋण मिला। अपने आधे ऋण के लिए, सीमांत किसानों को ग़ैर-संस्थागत स्रोतों का सहारा लेना पड़ा, जैसे कि साहूकार जो शोषणकारी ढंग से उच्च ब्याज दर वसूलते थे; इसने सीमांत किसान को क़र्ज़ के जाल में उलझा दिया। खेतिहर मज़दूरों के लिए स्थिति निराशाजनक बनी हुई है, जिन्हें अपने ऋण का अस्सी प्रतिशत साहूकारों से लेना पड़ता है।

कई भूमिहीन और सीमांत किसान काश्तकार बनकर और अन्य परिवारों से भूमि पट्टे पर लेकर खेती करते हैं, ऐसे जमींदार प्राय: प्रवासी की तरह शहरों में रहते हैं। आधिकारिक आँकड़े भारत में काश्तकार के तौर पर खेती करने वालों की संख्या को कम करके आँकते हैं। सर्वेक्षणों से पता चलता है कि खेतिहर परिवारों में काफ़ी बड़ी संख्या ऐसे काश्तकारों का है जो पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करते हैं। उदाहरण के लिए, तटीय आंध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में, सत्तर से अस्सी प्रतिशत किसान ऐसे ही काश्तकार हैं; बिहार में, छब्बीस प्रतिशत किसान पट्टे पर ज़मीन लेकर खेती करने वाले काश्तकार हैं। सीमांत किसान अक्सर काश्तकारी अनुबंधों को अपनाकर अपनी जोत को बढ़ा लेते हैं, जिस पर वे अपने पूरे परिवार के साथ मेहनत मज़दूरी करते हैं।

काश्तकारी अनुबंध ज्यादातर अनौपचारिक मौखिक समझौते होते हैं क्योंकि मालिक, जो बाहर रहने वाले प्रवासी ज़मींदार होते हैं, उन क़ानूनों को दरकिनार करना चाहते हैं जो किरायेदार किसानों को उनके द्वारा खेती की जाने वाली भूमि के संबंध में महत्वपूर्ण अधिकार देते हैं। चूँकि उनके पास स्वामित्व का कोई दस्तावेज़ नहीं होता है, इसलिए भूमिहीन किसानों – सीमांत किसानों की तरह – को फ़सल ऋण या दीर्घकालिक ऋण सहित संस्थागत समर्थन का लाभ नहीं मिल पाता है। ये काश्तकार किसान ऋण के लिए ज़मींदारों, धनी किसानों, साहूकारों और व्यापारियों की ओर रुख़ करते हैं। ब्याज दरें अधिक होती हैं, और उन काश्तकारों को अक्सर मुफ़्त श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता है। फ़सल ख़राब होने पर किसान क़र्ज़ के जाल में उलझते चले जाते हैं। किराये का भुगतान करने के बाद, छोटे और सीमांत काश्तकारों के पास इतना कम पैसा बच पाता है कि स्वास्थ्य ख़र्च या एक फ़सल बर्बाद हो जाने सहित कोई भी झटका उन्हें अनौपचारिक ऋण लेने के लिए मजबूर कर देता है, जिससे स्थानीय लेनदार की उसके ज़मीन और श्रम पर पकड़ और मज़बूत हो जाती है। काश्तकारी अनुबंध के अभाव में, काश्तकार किसान एमएसपी प्रणाली में बिक्री नहीं कर सकते; इसके बजाय, उन्हें अक्सर अपने खेतों में ही व्यापारियों के हाथों अपनी फ़सल बेचनी पड़ती है और इसके लिए एमएसपी से काफ़ी कम क़ीमत मिलती है।

1991 में शुरू हुए उदारीकरण की अवधि के दौरान संपूर्ण ऋण तथा मूल्य प्रणाली के कमज़ोर पड़ने से पहले ये समस्याएँ मौजूद थीं।

उदारीकरण और कृषि संकट

1990-91 में, भारत सरकार को एक गंभीर विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा। विदेशी मुद्रा भंडार गिरकर 1.2 अरब

डॉलर हो गया, जो केवल दो सप्ताह के आयात के भुगतान के लिए पर्याप्त था। भारत सरकार ने बैंक ऑफ़ लंदन से 40 करोड़ डॉलर के अल्पकालिक ऋण के लिए गारंटी के रूप में सैंतालीस टन सोना लंदन भेजा। भारत ने आईएमएफ़ का रुख़ किया। नवंबर 1991 में, वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने कहा, 'आईएमएफ़ के साथ बातचीत मुश्किल थी क्योंकि दुनिया बदल गई है। भारत इस दुनिया से अलग नहीं है। भारत को ऐसी दुनिया में जीवित रहना और फलना–फूलना है, जिसे हम अपने हिसाब से नहीं बदल सकते। आर्थिक संबंध शक्ति संबंध हैं। हम केवल नैतिकता के भरोसे नहीं रह सकते हैं'

जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस ओर इशारा किया कि भारत जिस संकट में घिर गया था उससे बाहर निकलने के लिए उसके पास अन्य विकल्प थे। इसके बावजूद, भारत सरकार ने आईएमएफ़ और विश्व बैंक से भारी शर्तों के साथ ऋण स्वीकार करने का विकल्प चुना। इन शर्तों के तहत, भारत को एक संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम के तहत नवउदारवादी सुधारों को लागू करने के लिए मजबूर किया गया था, जिसे महानगरीय लोगों और भारतीय पूँजी दोनों का उत्साही समर्थन प्राप्त था। इस सुधार के एजेंडे का मतलब था कि सरकार की नीति भारतीय लोगों को अनियंत्रित पूँजीवाद के सबसे ख़राब प्रभाव से बचाने के अपने प्रयास को रोक देगी।

सरकार ने नये निजी बैंकों को लाइसेंस प्रदान करके बैंकिंग क्षेत्र को विनियमित करना शुरू कर दिया, जो तब सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के ख़िलाफ़ प्रतिस्पर्धा कर रहे थे। इसका कृषि व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। उस समय, उदारीकरण के प्रवक्ताओं ने तर्क दिया – अक्सर बहुत कम प्रमाण के साथ – कि कृषि ऋण के लिए कोटा तय करने, कृषि के लिए बैंक ब्याज दरों पर लगाई गई सीमा तथा ग्रामीण बैंक शाखाओं के नेटवर्क की वजह से बैंकिंग क्षेत्र को नुक़सान उठाना पड़ा। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को नये निजी बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में कठिनाई हुई, इसके बाद उसने अपने ग्रामीण प्रभागों को समाप्त कर दिया। कृषि के लिए दिया जाने वाला ऋण कहीं और चला गया, जिसमें धीरे–धीरे बढ़ता हुआ वित्तीय क्षेत्र भी शामिल है। कृषि ऋण सिकुड़ गया और किसानों ने एक बार फिर शोषणकारी अनौपचारिक ऋण स्रोतों का सहारा लिया।

1 जनवरी 1995 को, भारत विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) में शामिल हो गया, जिसके परिणामस्वरूप कृषि आयात पर मात्रात्मक प्रतिबंधों में ढील दी गई। भारतीय किसान – जिनमें से कई केवल कुछ एकड़ भूमि पर काम करते हैं – बहुराष्ट्रीय कृषि व्यवसायों के ख़िलाफ़ तथा उन्नत औद्योगिक देशों के किसानों के ख़िलाफ़ प्रतिस्पर्धा करने के लिए मजबूर हुए, जो हज़ारों एकड़ ज़मीन पर खेती करते हैं तथा जिनकी सरकारें भारी सब्सिडी देकर उनकी मदद करती हैं।

सरकार ने न केवल कृषि आयात के दरवाज़े खोले, बल्कि सब्सिडी में कटौती करके भारतीय किसानों को भी निचोड़ा। उर्वरक की क़ीमतें बढ़ीं, जिससे खेती की लागत में वृद्धि हुई। निजी क्षेत्र के फ़र्मों द्वारा बड़े पैमाने पर उच्च पैदावार और मुनाफ़े का वादा करने वाले जनसंपर्क अभियानों ने किसानों को महंगे बीज और कीटनाशक ख़रीदने के लिए प्रेरित किया, जिससे पैदावार में थोड़ी वृद्धि तो हुई मगर खेती की लागत और बढ़ गई। यह दक्कन के पठार के अर्ध–शुष्क क्षेत्रों में कपास की खेती के मामले में साफ़ हो गया; किसानों को निर्यात के लिए कपास उगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया था, लेकिन कृषि व्यवसाय के ढीले नियमन के कारण कृत्रिम बीजों की बिक्री हुई और कीटनाशकों का अत्यधिक उपयोग हुआ, जिसके बाद कपास की फ़सल पर कीटों का हमला बढ़ गया, जिसकी वजह से उन फ़सलों को बर्बाद होने से नहीं बचाया जा सका और किसानों की हालत ख़राब होती चली गई। पिछले कुछ वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय कपास की क़ीमतों में गिरावट ने इस क्षेत्र में एक गंभीर कृषि संकट पैदा कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप किसानों की आत्महत्या से होने वाली मृत्यु में तेज़ी आई है। ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश में तेज़ी से कमी आई। 1991 के बाद, सतही सिंचाई में कोई विस्तार नहीं हुआ। मरम्मत के अभाव और गाद न निकाले जाने की वजह से नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्रों में दस लाख एकड़ की कमी हो गई है। परिणामस्वरूप, 1993-94 और 2004-05 के बीच किसानों की आय में सालाना केवल 1.96 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

बढ़ती लागत, विश्व बाज़ार में कम क़ीमतों और फ़सल की विफलता के कारण कृषि संकट का दौर जारी रहा। 1991 के बाद से, सरकार ने उपभोक्ता खाद्य सब्सिडी कम कर दी है, जिससे लाखों भारतीयों की खाद्य सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। 1995 और 2001 के बीच, भारत में कुपोषित लोगों की संख्या में लगभग 2 करोड़ की वृद्धि हुई। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन के रिपोर्ट विश्व में खाद्य असुरक्षा की स्थिति (2003) ने दिखाया कि उस समय दुनिया में 84.2 करोड़ कुपोषित लोगों में से, 21.4 करोड़, या एक चौथाई, भारत में रह रहे थे। इसी दशक में कम–से–कम ढाई लाख किसानों ने वित्तीय क़र्ज़ से निराश होकर आत्महत्या कर ली।

कृषि संकट सार्वभौमिक नहीं है: यह मुख्य रूप से छोटे और सीमांत किसानों को प्रभावित करता है। अमीर किसान – जो बाग़बानी, मछली पालन, आदि से भी जुड़े हुए हैं – प्रमुख क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों का लाभ उठाकर इस संकट से ख़ुद को पूरी तरह बचाने में सक्षम रहे हैं। उनके पास निवेश करने और बुरे वर्षों में घाटे की भरपाई करने की क्षमता थी। उदारीकरण बड़े किसानों के लिए उतना निर्दयी नहीं रहा है जितना कि बाक़ी कृषक समाज के लिए रहा है।

1991 के बाद, उदारीकरण के नकारात्मक परिणामों ने खेत के श्रमिकों और कारख़ाने के श्रमिकों, बेरोज़गारों और झुग्गी–झोपड़ियों में रहने वालों को प्रभावित करना शुरू कर दिया, और इसको लेकर प्रतिक्रिया तेज़ी से हुई। किसान की आत्महत्या का ग़म था; पान के बाग़ों की चोरी से लेकर उड़ीसा में पॉस्को स्टील तक सार्वजनिक भूमि के अतिक्रमण को लेकर बड़े पैमाने पर विरोध प्रदर्शन हुए; भट्टा परसौल (नोएडा, यूपी) गाँव में एक विशेष आर्थिक क्षेत्र के नाम पर भूमि छीने जाने के ख़िलाफ़ संघर्ष हुआ। भारत में हर राज्य ने अशांति का अनुभव किया गया, क्योंकि कई लोगों के जीवन स्तर में गिरावट आई और नौकरी की संभावनाएँ स्थिर हो गईं। औद्योगिक और कृषि पूँजीपति वर्ग और उनसे जुड़ी बहुराष्ट्रीय और राष्ट्रीय फ़र्मों के लिए लाभ पैदा करने के क्रम में लोगों का जीवन अस्त–व्यस्त हो गया। 'प्रगति' का ज़ोरदार हथौड़ा उन आदिवासियों (स्वदेशी समुदायों) पर पड़ता है जिनकी भूमि का दोहन होता है, और दलितों (उत्पीड़ित जातियों) पर भी पड़ता है जिन्हें अकल्पनीय दबावों के बीच खेतों में मज़दूरी करनी पड़ती है। आज के भारत में रोज़मर्रा की ज़िंदगी की क्रूरता आसानी से राजनीतिक गतिविधि में तब्दील नहीं होती है। सामाजिक असुरक्षा, आकस्मिक और ख़तरनाक कार्य, खंडित समुदाय, लंबी दूरी का प्रवास और लंबे समय तक आवागमन राजनीतिक कार्रवाई की संभावना को और अधिक चुनौतीपूर्ण बना देता है, लेकिन यह ऐसी कार्रवाई की अनिवार्यता को स्पष्ट भी करता है।

दिल्ली के सिंघू बॉर्डर पर पालकी साहिब सजाती महिलाएँ, 31 दिसंबर 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

दण्डविराम

2004 में, कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व वाले गठबंधन, संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) ने संसदीय चुनाव जीता और सरकार बनाई। यूपीए को वाम दलों ने संसद में समर्थन दिया, जिसने माँग की कि नवउदारवादी सुधार एजेंडे पर विराम लगाया जाए और सरकार किसानों का समर्थन करे। इन समझौतों को न्यूनतम साझा कार्यक्रम, गठबंधन सरकार के उद्देश्यों को रेखांकित करने वाले दस्तावेज़, में स्थान दिया गया। इसके छह बुनियादी सिद्धांतों में से एक ने स्पष्ट रूप से सरकार से 'किसानों, खेत मज़दूरों और श्रमिकों, विशेष रूप से असंगठित क्षेत्र के लोगों के कल्याण और बेहतरी के साथ ही उनके परिवारों के लिए हर तरह से एक सुरक्षित भविष्य का आश्वासन देने' का आह्वान किया।

कृषि के लिए ऋण में सुधार हुआ, इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में सार्वजनिक निवेश हुआ। 2005 में, सरकार ने एक ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारंटी अधिनियम या मनरेगा) शुरू किया, जिसने सभी कृषि श्रमिकों को 100 दिनों के काम का वादा किया, गाँवों में बुनियादी ढाँचे में सुधार के लिए धन उपलब्ध कराया, और सूखा प्रभावित क्षेत्रों में वाटरशेड विकास के ज़रिये जल स्तर को ऊपर उठाया गया। इन कार्यक्रमों से कृषि का विस्तार हुआ, विशेषकर कपास जैसी व्यावसायिक फ़सलों के उत्पादन में वृद्धि हुई। शहरी मध्यम वर्ग की माँगों को पूरा करने के लिए किसानों ने बाग़बानी फ़सलों और मुर्गी पालन की ओर ध्यान दिया। इससे मदद मिली क्योंकि उस समय वैश्विक कृषि क़ीमतें अधिक थीं, भारत की जीडीपी सालाना 7-8 फ़ीसदी की रफ़्तार से बढ़ने लगी, और सार्वजनिक तथा निजी निवेश में वृद्धि हुई। 2004-05 और 2011-12 के बीच, किसानों की आय में सालाना 7.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई, जोकि पिछले वर्षों में 1.96 प्रतिशत की वृद्धि से काफ़ी अधिक थी।

वामपंथ के दबाव के बावजूद, विशेष रूप से अपने दूसरे कार्यकाल (2009-2014) में, जब वह वामपंथी समर्थन पर निर्भर नहीं थी, यूपीए सरकार ने कई क्षेत्रों में नवउदारवादी एजेंडा चलाया, जो कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के पक्ष में था। अपने दूसरे कार्यकाल के दौरान, उर्वरक क्षेत्र को विनियमित करने, भूमि पट्टों को उदार बनाने, कृषि को वायदा कारोबार के लिए खोलने और कृषि बाज़ार सुधारों की प्रक्रिया शुरू करने की दिशा में यूपीए सरकार आगे बढ़ी। दूसरे शब्दों में, अपने दूसरे कार्यकाल में, यूपीए ने उस प्रक्रिया की शुरुआत की जिसे आगे चलकर प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी तेज़ करने वाले थे।

भारत की बड़ी पूँजी ने, राजनीतिक वर्ग के साथ मिलीभगत से, निजीकरण की नीतियों का लाभ उठाते हुए सार्वजनिक संसाधनों (लाभदायक सार्वजनिक क्षेत्र की संपत्ति सहित) को अपने क़ब्ज़े में कर लिया, गाँव और वन समुदायों को विस्थापित करके भूमि के बड़े हिस्से का अधिग्रहण किया, देश के खनिज संसाधनों को नियंत्रित किया और धोखाधड़ी तथा ग़ैर–भुगतान योजनाओं के ज़रिये सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों को खोखला कर दिया। यह प्रक्रिया – जिसमें निजीकरण, व्यापार उदारीकरण, और अपस्फीति नीतियाँ शामिल हैं – जिसे प्रभात पटनायक 'अतिक्रमण द्वारा संचय' कहते हैं, राज्य के पूर्ण समर्थन के साथ मानव जीवन के क्षेत्रों पर नियंत्रण करने के लिए पूँजी द्वारा चलाया जा रहा अभियान है। 2008 के बाद से, उद्योगपति मुकेश अंबानी ने फ़ोर्ब्स की अरबपतियों की सूची में अपनी वार्षिक उपस्थिति दर्ज की; 2008 में, उनकी कुल संपत्ति 20.8 अरब डॉलर थी, और वह जल्द ही यूरोप और उत्तरी अमेरिका के बाहर दुनिया के सबसे अमीर आदमी बन जाएँगे। जब 2009 में यूपीए सरकार दूसरे कार्यकाल के लिए फिर से चुनी गई, और इस बार उसे वामपंथियों के समर्थन की आवश्यकता नहीं थी, तब शेयर बाज़ार में काफ़ी उछाल आया और अंबानी की कंपनियों के बाज़ार मूल्य में पाँच दिनों में 1.2 करोड़ डॉलर की बढ़ौतरी हुई।

मोदी का अभिशाप

2011 में, मुकेश अंबानी सहित भारत के सबसे बड़े पूँजीपतियों ने वाइब्रेंट गुजरात नामक एक सम्मेलन में भाग लिया, जहाँ उन्होंने राज्य के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी की प्रशंसा की, 2002 में मुसलमानों के नरसंहार को अंजाम देने के आरोप को

ख़ारिज कर दिया, और प्रभावी ढंग से प्रधानमंत्री पद के लिए मोदी के दावे का समर्थन किया। अधिक नवउदारवादी सुधारों के लिए उत्सुक, इन पूँजीपतियों ने 'श्रम बाज़ार उदारीकरण' (यानी, ट्रेड यूनियनों को सामप्त करने) और 'कृषि सुधार' के लिए अपने साधन के रूप में मोदी पर भरोसा किया। तीन साल बाद, भारतीय जनता पार्टी ने संसदीय चुनाव जीता और मोदी भारत के प्रधान मंत्री बने।

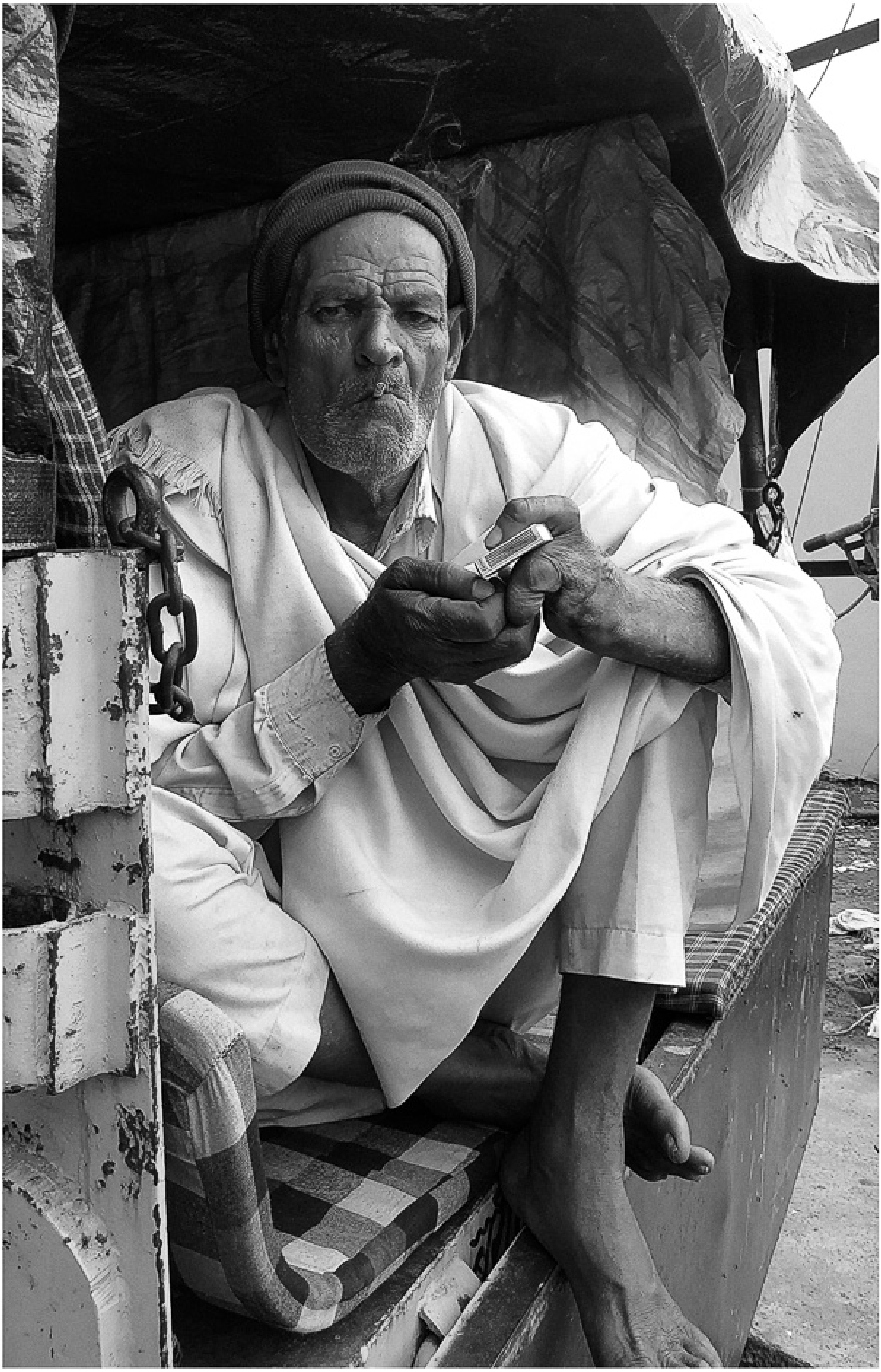

दिल्ली के टिकरी बॉर्डर पर विरोध प्रदर्शन में भाग लेता हरियाणा का एक किसान, 12 दिसंबर 2020।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

कपास जैसे निर्यात फ़सलों की अंतर्राष्ट्रीय क़ीमतों में गिरावट, दो साल के सूखे और कृषि विकास दर में सामान्य मंदी ने मोदी सरकार का स्वागत किया। सामने उपस्थित संकट से निपटने के बजाय, मोदी सरकार ने अर्थव्यवस्था पर तीन और आर्थिक आपदा थोप दिया:

a. **विमुद्रीकरण (नोटबंदी) (2016)**बिना किसी चेतावनी के वर्तमान में प्रचलित अस्सी प्रतिशत से अधिक मुद्रा वापस लेकर, मोदी ने कृषि वस्तुओं सहित माँग को कम करने के लिए मजबूर किया। किसानों को दूध और सब्ज़ियाँ फेंकनी पड़ीं, ये सभी चीज़ें बेकार हो गई थीं जैसे उनके पास रखी नक़दी बेकार हो गई थी।

b. **वस्तु और सेवा कर या जीएसटी (2017)**जीएसटी के कार्यान्वयन ने छोटे व्यापारियों और खुदरा व्यवसायों के छोटे–मोटे मुनाफ़े में कटौती की। इसने कृषि बाज़ारों को प्रभावित किया, जिससे अधिक विविध छोटे व्यापारी क्षेत्र के स्थान पर एकाधिकार फ़र्मों की अधिक उपस्थिति देखी गई।

c. **कोविड-19 (2020-21)**भाजपा सरकार इस बीमारी का समना करने तथा इसको तेज़ी से फैलने से रोकने में विफल रही है। मार्च 2020 में अचानक हुए लॉकडाउन ने लाखों प्रवासी कामगारों को शहरों की अपनी नौकरी छोड़कर दूरदराज़ के अपने गाँवों और छोटे शहरों में अपने घरों को लौटने के लिए मजबूर कर दिया। जब संक्रमण और मृत्यु दर में तेज़ी आई, तो कृषि वस्तुओं की माँग गिर गई; इससे उन किसानों के लिए संकट और बढ़ गया जिनके पास किसी प्रकार का सुरक्षा कवच नहीं था।

कोविड-19 संकट की शुरुआत में, मौक़े का फ़ायदा उठाते हुए सरकार ने जून 2020 में संसद में तीन कृषि बिल पेश किए, जिन्हें बिना किसी संसदीय बहस के सितंबर 2020 में पारित कर दिया गया और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद जो क़ानून बन गया। इन तीनों क़ानूनों ने कृषि क्षेत्र को बड़े कृषि व्यवसायों के प्रवेश के लिए खोल दिया। सरकार ने दावा किया कि ये क़ानून किसानों को बाज़ार में सर्वोत्तम मूल्य पाने के लिए अवसर प्रदान करेगा, पर वास्तव में इससे छोटे किसानों को कृषि व्यवसायों के रहमो–करम पर छोड़ दिया जाएगा, जो बाज़ार को नियंत्रित करते हैं और बड़े पैमाने पर लाभ कमाते हैं।

तीनों क़ानून कृषि बाज़ार में मौजूद सीमित नियमों को कमज़ोर कर देंगे। 1991 से इन नियमों का गला घोंटा जाता रहा है, लेकिन अब इन्हें बर्ख़ासत किया किया जा रहा है।

1. किसान उपज व्यापार और वाणिज्य (संवर्धन और सुविधा) अधिनियम। यह क़ानून तय करता है कि नियंत्रित बाज़ार यार्ड के बाहर व्यापार पर कर नहीं लगाया जाएगा, जिसका अर्थ है कि व्यापारी अनियंत्रित बाज़ारों के लिए नियंत्रित बाज़ारों को छोड़ देंगे। जिन राज्यों में नियंत्रित मार्केट यार्ड मौजूद हैं – जैसे कि हरियाणा और पंजाब – वहाँ इसका तत्काल प्रभाव पड़ा है।

2. मूल्य आश्वासन और कृषि सेवा पर किसान (सशक्तिकरण और संरक्षण) समझौता अधिनियम। यह क़ानून कृषि व्यवसाय फ़र्मों को एक विशिष्ट क़ीमत पर एक विशिष्ट फ़सल की विशिष्ट मात्रा के लिए किसानों के साथ सीधी बातचीत करने की अनुमति देता है। अनुबंध के लिए कोई विनियमन या सीमा नहीं है। अनुबंध मौखिक हो सकते हैं। क़ानून इन अनुबंधों के बारे में किसी भी विवाद को दीवानी अदालतों के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखता है, जो

किसानों को कॉरपोरेट्स और नौकरशाहों की दया पर छोड़ देगा।

3. आवश्यक वस्तु (संशोधन) अधिनियम। इस क़ानून के माध्यम से, सरकार ने आवश्यक वस्तुओं की सूची से प्रमुख वस्तुओं (अनाज, दालें, आलू और प्याज़) को हटा दिया, आवश्यक वस्तु अधिनियम (1955) के अनुसार जिन वस्तुओं की जमाख़ोरी नहीं की जा सकती थी। 1955 अधिनियम खाद्य मूल्य मुद्रास्फीति को रोकने के लिए बनाया गया था; इस अधिनियम में संशोधन कॉरपोरेट्स के अनाज व्यापार में प्रवेश को आसान बनाता है और कृषि वस्तुओं के भंडार की अनुमति देता है, जिससे बाज़ार के वायदा कारोबार में तेज़ी आएगी।

किसान तुरंत समझ गए कि इन तीन क़ानूनों का मतलब है बड़े व्यवसाय द्वारा कृषि का अधिग्रहण। पहले से ही किसान अपनी फ़सल का बेहतर मूल्य पाने के लिए संघर्ष करते रहे हैं: उपभोक्ता चवाल ख़रीदने में जितना पैसा ख़र्च करते हैं धान किसानों को उसमें से आधे से भी कम मिलता है, और प्याज़ तथा आलू किसानों की फ़सलें खुदरा बाज़ार में जिस क़ीमत पर बिकती हैं उसका पैंतीस प्रतिशत क़ीमत ही उन तक पहुँचता है। एक बार जब कृषि व्यवसाय व्यापार को अपने हाथ में ले लेगा, तो निश्चित तौर पर किसानों की हिस्सेदारी और भी कम हो जाएगी।

इसके अलावा, किसानों को पता है कि एक बार नियंत्रित बाज़ार बंद हो जाने के बाद, सरकार अनाज की ख़रीद को कम कर देगी और एमएसपी को पूरी तरह से वापस ले सकती है। सरकार ने कहा है कि उर्वरकों पर सब्सिडी देने के बजाय, वह किसानों को नक़द हस्तांतरण करेगी। किसानों का कहना है कि इस बात की पूरी संभावना है कि यह हस्तांतरण राशि मुद्रास्फीति के आधार पर नहीं दी जाएगी और अंततः इसे रोक दिया जाएगा। सब्सिडी में कटौती के बाद, किसानों की फ़सल लागत में वृद्धि हो जाएगी, और एमएसपी को वापस ले लिए जाने बाद से उन्हें बिना समर्थन के अस्थिर कृषि बाज़ारों का सामना करना पड़ेगा।

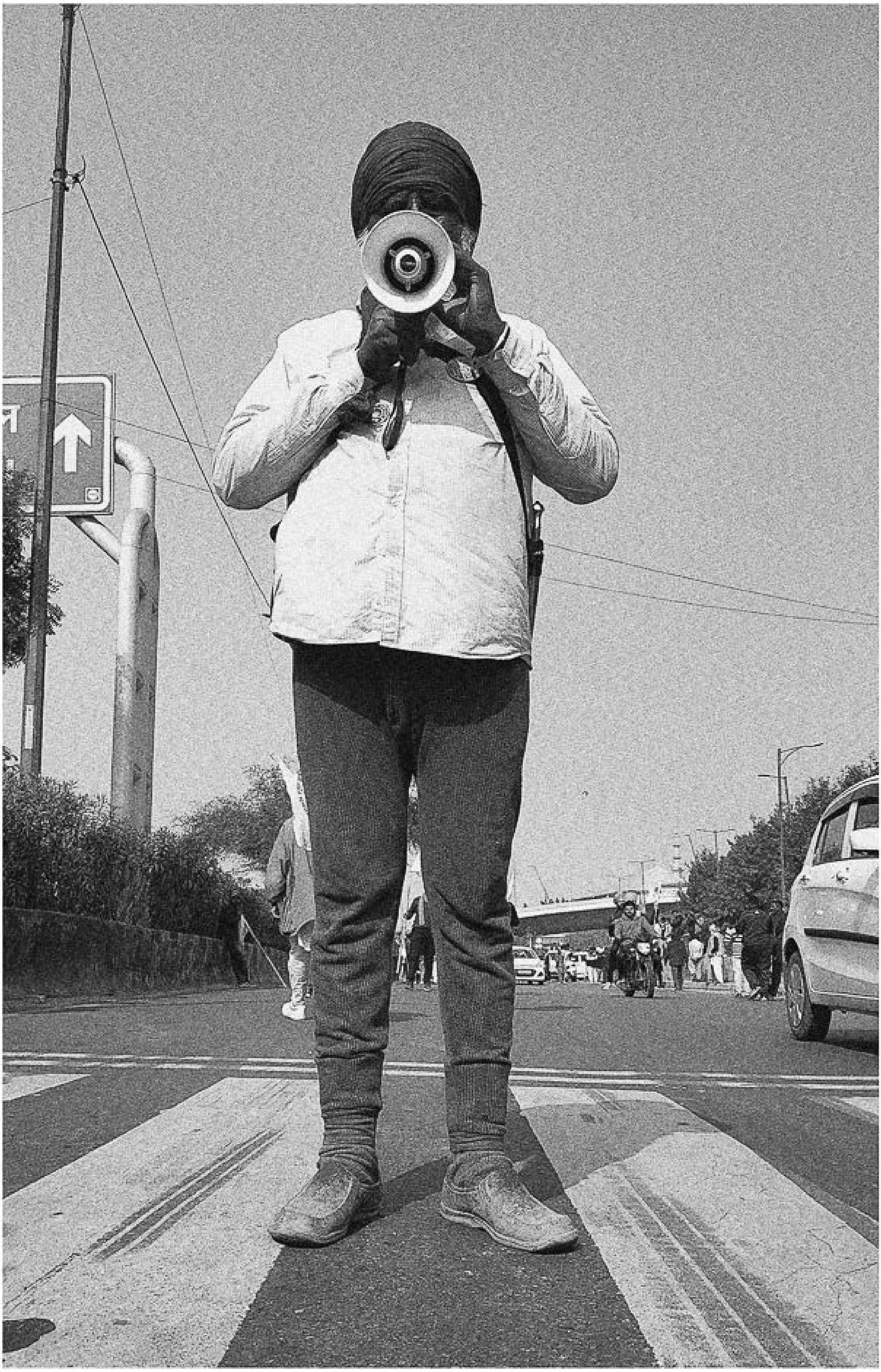

दिल्ली के जीटी करनाल बाईपास रोड पर गणतंत्र दिवस की ट्रैक्टर मार्च के दौरान पंजाब का एक किसान विरोध करता हुआ, 26 जनवरी 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

इन क़ानूनों का औचित्य यह बताया जा रहा है कि उर्वरकों पर सब्सिडी देने और आवश्यक वस्तुओं की ख़रीद के कारण उर्वरकों का अत्यधिक उपयोग हुआ, जिससे मिट्टी का स्वास्थ्य ख़राब हुआ, और भूजल संसाधनों का अत्यधिक उपयोग हुआ (विशेषकर धान और गेहूँ के विस्तार के माध्यम से)। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि बड़े व्यवसाय मिट्टी के स्वास्थ्य या पानी के बहुत ज़्यादा इस्तेमाल के बारे में चिंतित हैं। इन समस्याओं का सबसे अच्छा समाधान संस्थाओं को तोड़ना नहीं है, बल्कि उनमें सुधार करना है। उदाहरण के लिए, किसानों की लंबे समय से माँग रही है कि सरकार को ख़रीद के लिए फ़सलों की सूची का विस्तार करना चाहिए, जिससे धान और गेहूँ के अलावा अन्य फ़सलों की मात्रा में वृद्धि हो सकेगी। इससे हरित क्रांति से प्रभावित क्षेत्रों के बाहर ख़रीद मशीनरी स्थापित हो सकेगी, और एक अधिक संतुलित फ़सल पैटर्न सुनिश्चित करने में सहायता मिलेगी। तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए विस्तार सेवाओं में सुधार करके, लागत का बेहतर उपयोग किया जा सकता है। उर्वरकों और कीटनाशकों के बारे में सलाह के लिए कृषि रसायन कंपनियों पर निर्भरता ने इन रसायनों के अनुकूलित उपयोग के बढ़ावा नहीं दिया है। सार्वजनिक विस्तार सेवाओं को मज़बूत करने से ज़हरीले रसायनों के अनावश्यक उपयोग को कम करने में काफ़ी मदद मिलेगी।

यह स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की समस्या बहुत अधिक संस्थागत समर्थन नहीं है, बल्कि संस्थानों के अपर्याप्त और असमान विस्तार के साथ-साथ ग्रामीण समाज में अंतर्निहित असमानताओं को दूर करने के लिए इन संस्थानों की अनिच्छा है। इस बात का कोई सबूत नहीं है कि कृषि व्यवसाय फ़र्म बुनियादी ढाँचे का विकास करेगा, कृषि बाज़ारों को बढ़ाएगा, या किसानों को तकनीकी सहायता प्रदान करेगा। किसानों के सामने ये सभी बातें स्पष्ट हैं।

किसानों का विरोध, जो अक्टूबर 2020 में शुरू हुआ, उस स्पष्टता का संकेत है जिसके साथ किसानों ने कृषि संकट को लेकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है और साफ़ तौर पर कहा है कि उन तीन क़ानूनों से कृषि संकट और गहरा होगा। सरकार का कोई भी प्रयास – जिसमें धार्मिक आधार पर किसानों को उकसाने की कोशिश भी शामिल है – किसानों की एकता को तोड़ने में सफल नहीं हुआ है। एक नयी पीढ़ी है जिसने विरोध करना सीख लिया है, और वे पूरे भारत में अपनी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार है।

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय (अमृतसर, पंजाब) में पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर सरबजोत सिंह बहल ने एक किसान की कहानी (जीना सिंह द्वारा अंग्रेज़ी में अनुदित कविता के आधार पर हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है) नाम से एक कविता लिखी, जो किसानों की लड़ाई की भावना को अभिव्यक्त करती है:

जोतना, बोना, उगाना और काटना

यही वो वादा है जो मैंने कर रखा है

अपनी मिट्टी से जिसपर मैं खड़ा हूँ

ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...

जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

जिस मिट्टी को मैंने अपने पसीने से सींचा

जिसके लिए सीने पर तूफ़ान सहे
कँपकपाती ठंड या चिलचिलाती गर्मी
मेरी आत्मा को कभी डिगा नहीं सकी
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

जो क़ुदरत नहीं कर पाई, शासक ने कर दिखाया
मेरी आत्मा का पुतला लगाया
फैले हुए खेतों में जैसे कोई बिजूका
अपनी ख़ुशी और उपहास के लिए
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

बीते दिनों की बात है, मेरे खेत फैले हुए थे
जहाँ धरती से आकाश मिलते थे
लेकिन अफ़सोस! अब मेरे पास बची है
मेरा क़र्ज़ चुकाने के लिए कुछ एकड़ ज़मीन
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी...
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

मेरी फ़सल सुनहरी, सफ़ेद, और हरी
मैं बाज़ार में लेकर आता हूँ नज़रे उम्मीद भरी
धराशायी उम्मीदें और ख़ाली हाथ
अपनी भूमि के तोहफ़े लेकर जाता था
ऐसी होती है ज़िंदगी...जब तक मौत नहीं आती

मुझे इस दुख से उबारने के लिए

भूखे बिलखते अनपढ़ बच्चे
उनके सपने अब बिखरे पड़े हैं
छत के नीचे, बस मलबा है
टूटा है जिस्म, आत्मा बिखरी पड़ी है
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी…
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

चले गए सारे ज़ेवर, और जवाहरात,
है ख़ाली पेट, और लाचार आत्मा
लेकिन मुझे पूरा करना है अपना वादा
भूख और लोभ मिटाना का
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी…
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

सुनहरी फ़सल जो हूँ मैं काटता
कोई भी व्यापारी कभी नहीं चाहता
क़र्ज़ में डूबा, संकट में इतना गहरा
कि मेरे धड़कनों पर भी है शायद पहरा
ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी…
जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

क्या हो सकता है कोई और जवाब?
फाँसी हो या हो फिर इंक़लाब

हँसिया और दराँती नहीं रहे औज़ार

वे अब बन गए हैं हथियार

ऐसी ही है मेरी ज़िंदगी…

जब तक इस जिस्म में जान बाक़ी है

जीटी करनाल रोड पर एक ट्रैक्टर दल बैरिकेड तोड़ कर दिल्ली में प्रवेश करता हुआ, जिसके बाद दिल्ली में प्रदर्शनकारियों और पुलिस के बीच टकराव शुरू हो गया था, 26 जनवरी 2021।
विकास ठाकुर / ट्राईकॉन्टिनेंटल: सामाजिक शोध संस्थान

References:

Balachandran, Gopalan. *Reserve Bank of India, 1951-1967, Vol. 2*. Oxford: Oxford University Press, 1998.

Bansal, Vaishali, Yoshifumi Usami, and Vikas Rawal. *Agricultural Tenancy in Contemporary India: An Analytical Report and a Compendium of Statistical Tables based on NSSO Surveys of Land and Livestock Holding, SSER Monograph 18/1*. New Delhi: Society for Social and Economic Research, 6 May 2018.

Bardhan, Pranab. 'Green Revolution and Agricultural Labourers'. Special issue of *Economic and Political Weekly,* vol. 5, no. 29-31, July 1970.

Bhaduri, Amit. 'A Study in Agricultural Backwardness Under Semi-Feudalism'. *The Economic Journal*, vol. 83, no. 329, 1 March 1973.

Bhoi, Binod B., Sujata Kundu, Vimal Kishore, and D. Suganthi. 'Supply Chain Dynamics and Food Inflation in India'. *RBI Bulletin*, vol. LXXIII, no. 10, October 2019.

Chakravarti, A. K. 'Green Revolution in India'. *Annals of the Association of American Geographers*, vol. 63, no. 3, September 1973.

Chand, Ramesh, Raka Saxena, and Simmi Rana. 'Estimates and Analysis of Farm Income in India, 1983–84 to 2011–12'. *Economic and Political Weekly*, vol. 50, no. 22, May 2015.

Chaudhary, M. K., and D. R. Aneja. 'Impact of Green Revolution on Long-Term Sustainability of Land and Water Resources in Haryana'. *Indian Journal of Agricultural Economics*, vol. XLVI, no. 3, July-September 1991.

Davis, Mike. *Late Victorian Holocausts: El Niño Famines and the Making of the Third World*. New York: Verso, 2000.

Digby, William. *'Prosperous' British India: A Revelation from Official Records*. London: Fisher Urwin, 1901.

Dutt, Subimal. *Report of the Industrial Licensing Policy Inquiry Committee*. Government of India, Ministry of Industrial Development, Internal Trade and Company Affairs, New Delhi, 1969.

Gait, E. A. *Census of India, 1911, Vol. 1*. Calcutta: Office of the Superintendent Government Printing, 1911.

George, P. S. 'Some Aspects of Public Distribution of Foodgrains in India'. *Economic and Political Weekly*, vol. 19, no. 39, 29 September 1984.

Ghosh, Jayati, C. P. Chandrasekhar, and Prabhat Patnaik. *Demonetisation Decoded: A Critique of India's Currency Experiment*. New Delhi: Routledge India, 2017.

Goldsmith, Arthur A. 'Policy Dialogue, Conditionality, and Agricultural Development: Implications of India's Green Revolution'. *The Journal of Developing Areas*, vol. 22, no. 2, January 1988.

Government of India, Directorate of Economics and Statistics, Ministry of Agriculture, Cooperation, and Family Welfare. *Pocket Book of Agricultural Statistics 2017*. New Delhi, 28 June 2018.

Government of India, Ministry of Agriculture and Farmers' Welfare. *Report of the Committee on Doubling Farmers' Income, Volume I: 'March of Agriculture since Independence and Growth Trends'*. New Delhi, August 2017.

Government of India, Ministry of Statistics and Programme Implementation. 'Summary of macro economic aggregates at current prices, 1950-51 to 2013-14'. New Delhi, March 2014.

Government of India, National Sample Survey Office, Department of Statistics and Programme Implementation. *Key Indicators of Situation of Agricultural Households in India.* NSS 70th Round, January-December 2013, New Delhi, December 2014.

Government of India, Research and Policy Division, Ministry of Home Affairs. *The Causes and Nature of Current Agrarian Tensions*. New Delhi, 1969.

Government of India, National Sample Survey Organisation, Department of Statistics. *Tables with notes on some aspects on landholdings in rural areas (state and all-India estimate).* NSS 17th Round, September 1961-July 1962, Report no. 144, New Delhi, 1970.

Government of India, Ministry of Information and Broadcasting. *Problems of the Third Plan: A Critical Miscellany*. New Delhi, 1961.

Hazari, R. K. *Corporate Private Sector: Concentration, Ownership and Control*. Bombay: Asia Publishing House, 1966.

Issac, T.M., Thomas, Lekha Chakraborty, and R. Mohan. *Challenges to Indian Fiscal Federalism*. Foreword by Ghosh, Jayati, and C.P. Chandrasekhar. New Delhi: LeftWord Books, 2019.

Mooij, Jos. 'Food policy and politics: The political economy of the public distribution system in India'. *Journal of Peasant Studies*, vol. 25, no. 2, 1998.

McMahon, Robert J. 'Food as a Diplomatic Weapon: The India Wheat Loan of 1951'. *Pacific Historical Review*, vol. 56, no. 3, August 1987.

Patnaik, Prabhat, and C. P. Chandrasekhar. 'Indian Economy under 'Structural Adjustment'. *Economic and Political Weekly*, vol. 30, no. 47, November 1995.

Patnaik, Prabhat. 'The Accumulation Process in the Period of Globalisation'. *Economic and Political Weekly*, vol. 43, no. 26-27, 28 June-11 July 2008.

Patnaik, Utsa, and Subhra Chakrabarti, eds. *Agrarian and Other Histories: Essays for Binay Bhushan Chaudhuri*. New Delhi: Tulika Books, 2019.

Ramachandran, V. K., Madhura Swaminathan, and Vikas Rawal, eds. *Socio-economic Surveys of Three Villages in Andhra Pradesh: A Study of Agrarian Relations*. New Delhi: Tulika Books, 2010.

Ramana Murthy, R.V., and Rekha Misra. 'Pricing of Paddy A Case Study of Andhra Pradesh'. Reserve Bank of India, Department of Economic and Policy Research, Development Research Group, Study no. 38, 2012.

Ramakumar, R., ed. *Note-Bandi: Demonetisation and India's Elusive Chase for Black Money*. Oxford: Oxford University Press, 2018.

Rawal, Vikas, and Vaishali Bansal. *The Land Question in Contemporary Rural India, SSER Monograph 21/2.* New Delhi: Society for Social and Economic Research, 2021.

Rawal, Vikas. 'Ownership Holdings of Land in Rural India: Putting the Record Straight'. *Economic and Political Weekly*, vol. 43, no. 10, March 2008.

Rawal, Vikas, Suvidya Patel, and Jessim Pais. *The Political Economy of Agricultural Market Reforms: An Analysis of the Farmers Produce Trade and Commerce (Promotion and Facilitation) Act, 2020, SSER Monograph 20/4*. New Delhi: Society for Social and Economic Research, 2020.

Reserve Bank of India. *The Reserve Bank of India, 1967-1981, Vol. 3*. Mumbai: Reserve Bank of India, 2005.

Rewa, Pranjal, ed. *Kabhu na Chare Khet. Dilli ke darwaze par kisan ki dastak*. New Delhi: LeftWord Books, 2021.

Shah, Mihir, Rangu Rao, and P. S. Vijay Shankar. 'Rural Credit in 20th Century India: Overview of History and Perspectives'. *Economic and Political Weekly*, vol. 42, no. 15, 14-20 April 2007.

Sharma, Alakh N., and Gerry Rodgers. 'Structural Change in Bihar's Rural Economy Findings from a Longitudinal Study'. *Economic and Political Weekly*, vol. 50, no. 52, December 2015.

Sen, Abhijit. 'Some Reflections on Agrarian Prospects'. *Economic and Political Weekly*, vol. 51, no. 8, February 2016.

Sen, Abhijit, and Jayathi Gosh. 'Indian Agriculture after Liberalisation'. *Bangladesh Development Studies*, vol. XXXX, A, no. 1-2, March-June 2017.

Singh Behl, Sarbjot. 'A Couple of Acres to Pay My Debt.' *People's Archive of Rural India,* 5 November 2020.

Singh, Gyanendra. 'Trends in agricultural production as influenced by growth in irrigation resources in India'. *World Water Policy*, vol. 6, no. 2, November 2020.

Sridhar, V. 'Why Do Farmers Commit Suicide? The Case of Andhra Pradesh'. *Economic and Political Weekly*, vol. 41, no. 16, April 2006.

Torri, Michelguglielmo. 'Economic Policy and Political Gains: The First Phase of India's Green Revolution'. *Asia Studies Journal*, vol. 12, no. 2-3, 1974.

Tricontinental: Institute for Social Research. *CoronaShock: A Virus and the World.* 5 May 2020.

Tricontinental: Institute for Social Research. *The Neoliberal Attack on Rural India: Two Reports by P. Sainath.* 7 October 2019.

Tricontinental: Institute for Social Research. *One Hundred Years of the Communist Movement in India.* 1 September 2020.